UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180345

UNIVERSAL
LIBRARY

अपराजिता

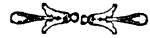

अंचल

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९४६
सर्वोदय साहित्य मन्दिर.

PRINTED AND PUBLISHED BY
K. MITTRA, AT THE INDIAN PRESS, LTD.
ALLAHABAD

अपराजिता की अधिकांश कवितायें मेरे पिछले दो-तीन वर्षों में लिखी गई हैं।

जिन परिचित और अपरिचित भाइयों, बहनों ने मेरी कविताओं को पढ़कर अपनी संवेदना अयाचित ही मुझ तक पहुँचाई है उनकी कृपा का भार मेरे दुर्बल प्राण पर है। उसे स्वीकृत करते समय इतना और कह देना होगा कि वह ख़ास किस्म की प्रेरणा जिससे कवि के अन्तर में बराबर स्वप्न और सत्य, सौन्दर्य और तृष्णा, असन्तोष और अभिशाप की आग लगती रहती है केवल उसी की सम्पत्ति नहीं होती।

जुलाई, १९३९ **अंचल**

पुनश्च

लगभग चार वर्ष तक अप्राप्य रहने के बाद अपराजिता नये रूप में पाठकों के सामने आ रही है। हिन्दी संसार में अपराजिता को लेकर जितनी चर्चा चली—जिस प्रकार टीका टिप्पणी की गई वैसी कम कविता पुस्तकों को लेकर हुई होगी। मैं उन आलोचकों का ऋणी हूँ जिन्होंने अपने संगत सुझावों द्वारा कविताओं में इधर उधर मुझे आवश्यक परिवर्तन करने के लिये प्रेरित किया।

जुलाई, १९४६ **अंचल**

समर्पण

अपनी उसी अशेष स्नेह की पात्री को जिसका आज नाम भी लेना असंभव है।

प्राणों में भयंकर ऐठन-सी रौंदती हुई वह याद आ जाती है। रोते-रोते उसकी अँखड़ियाँ लाल हो उठी थी—बरौनियाँ सूज गई थीं। ऊपर आसमान में मेघ बरस रहे थे—ऊदे ऊदे, और नीचे सोलह साल की नारी कुछ नीली—कुछ पीली। मानो आत्मा का सारा रूप बेपरदा होकर निकल आया हो। मानो वह अपने जीवन-देवता के हाहाकार का स्वतः गीला गीला प्रतिबिम्ब बन गई हो।

आज भी जब चिर विरोधी तत्त्वों से विनिर्मित इस भूखे दुर्बल मानव के मन में वासना का आघात होता है तब उस जीवन-संगिनी बहन का हहराती यमुना-सा मुख न जाने कैसी मीठी मीठी आँच फूंक देता है जिसमें सारा विकार, सारा कल्मष, सारी लिप्सा स्वाहा हो जाती है। पर रोम प्रति रोम जैसे जीवित चीत्कार बन जाता है।

अपनी उसी अशेष स्नेह की पात्री को।

प्रवेश

रामेश्वर शुक्ल 'अचल' नवीन हिन्दी-काव्य का एक क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ यदि 'स्रष्टा' शब्द से केवल सृजनकर्त्ता का आशय हो। किन्तु यदि उसका तात्पर्य क्रान्ति को अपनी नैसर्गिक सीमा तक पहुँचा देने का हो तो स्रष्टापद अभी उसके लिए अनुपयुक्त होगा। अंचल अभी मार्ग में है, बहुत कुछ उसकी भविष्य की गतिविधि पर अवलंबित है।

क्रान्ति उसने की है, छायावाद की मानवीय किंतु अधिकांश अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा; छायावाद की सूक्ष्म उज्ज्वल मर्मस्पर्शिता के बदले अपनी जीवंत रंगीनी द्वारा। इस क्रान्तिदूत का संदेश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया या क्रान्तिकारी संदेश है?

उत्तर में केवल 'हाँ' कहना पर्याप्त न होगा; गत कतिपय वर्षों की हिन्दी-काव्य की सामान्य रूपरेखा भी देखनी होगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत अथवा बीसवीं के आरंभ में हिन्दी की दो ही प्रधान काव्यधाराएँ थीं। एक भक्ति-प्रधान धारा और दूसरी शृङ्गार-प्रधान धारा। दोनों का उद्गम एक ही अति उन्नत कृष्णकाव्य-रूपी शैल-शिखर से हुआ था किन्तु दोनों ही उस समय ह्रासोन्मुख हो रही थी। भक्ति और शृङ्गार का, दिव्यता और लौकिकता का फूट कर पृथक् पृथक् हो जाना दोनों के लिए सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ। किन्तु ह्रास का केवल यही कारण न था। दिव्यता और लौकिकता दोनों ही रूढ़िबद्ध भी हो गईं—एक मठों और मन्दिरों में तथा दूसरी दरबारों और मजलिसों में। जीवनमय सांस्कृतिक स्रोतों से दोनों का संपर्क छूट गया। फलतः दोनों का अधःपात स्वाभाविक था।

क्या ही आश्चर्य है कि अधःपतन के चिह्न दोनों के एक से ही हैं। दिव्य (भक्ति) काव्य अपनी अलौकिकता की वृद्धि करता उस सीमा तक पहुँचा जहाँ नाना दिव्य लोकों की सृष्टि, अनेकानेक दिव्य सहचारियों

के भेद तथा दिव्य नायक का दिव्य अष्टयाम आदि प्रचलित हुए; दूसरी ओर लौकिक काव्य भी नायक-नायिकाओं की अपार श्रेणी-शृंखला, ऋतुचर्या, दिनचर्या और सहेट स्थलों के बहुविध भेदों को लेकर उपस्थित हुआ। समाज में एक ओर साधुओं की अलौकिक सिद्धियों और चमत्कारों का प्राधान्य हो गया तथा दूसरी ओर उसी पैमाने पर नाच-रंग और विलास-सामग्रियाँ फैल चलीं। नाम और रूपभेद के रहते हुए भी वास्तविकता में वे एक-दूसरे के अति निकट आ गई थीं। दोनों में ही दुर्बल भावुकता, राजसिकता और राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक विच्छेद के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

आवश्यकता थी दोनों को एक में मिलाकर अथवा अलग-अलग ही उनका संस्कार करने की—अलौकिकता को मनोवैज्ञानिक वास्तविकता देने, कर्म-क्षेत्र में आत्यसाधन करने की और अलौकिकता को लोक-सामान्य या सार्वजनिक बनाने की। इसी प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के निकट आकर क्रमशः एक हो सकते थे अथवा पृथक् रहकर भी सामूहिक सस्कृति के उन्नयन में योग दे सकते थे।

लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग अलग स्तरों पर है, या ये एक ही मूलवस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं? इस आनुषांगिक किन्तु आवश्यक प्रश्न का उत्तर दिये बिना आगे हम नहीं बढ़ सकेंगे। प्रत्यक्ष और परोक्ष में केवल दृष्टिभेद है या वस्तुभेद? यह प्रश्न यहाँ काव्य और कलाओं के मूल्य-निरूपण के विचार से ही पूछा जा रहा है। धार्मिक दृष्टि से प्रायः ये स्तर पृथक् पृथक् माने जाते हैं। किन्तु नवीन मनोविज्ञान इनमें वस्तुगत भेद नहीं मानता। काव्य में ये प्रायः एक दूसरे से मिले जुले पाए जाते हैं, यद्यपि विशुद्ध आध्यात्मिक काव्य भी कबीर आदि निर्गुण संतों का लिखा पाया जाता है। मूलतः लोकातीत भावनामय, एक असीम तत्त्व का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति—चाहें वह मूर्त्त हो या अमूर्त्त, यही आध्यात्मिक काव्य का विषय कहा जा सकता है। किन्तु यही आदर्शवाद की भी एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। यह व्याख्या धर्म और अध्यात्म की उन्नतावस्था में ही ठीक उतरती है; तथाकथित रूढ़िबद्ध अध्यात्म तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न भिन्न समयों और समूहों की मानसिक आत्म-पूजा-मात्र है। चाहे वह निर्गुण-काव्य हो, अथवा सूफी अथवा उन्नति-कालीन भक्तिकाव्य ही क्यों न हो, सभी आदर्शवाद की श्रेणी में आते हैं। त्यागोन्मुख भावप्रधान मानव-चरित्र भी इसी कोटि में सम्मिलित होंगे।

इस संपूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन भी है जिसे व्यापक रूप से आध्यात्मिक दर्शन कहते हैं। असीम सत्ता की स्वीकृति

और उस पर आस्था ही इसका मुख्य सिद्धान्त है। इसी से प्रेरित होने के कारण आध्यात्मिक काव्य अपनी एक श्रेणी भी बना लेता है।

इससे भिन्न प्रत्यक्ष, लौकिक अथवा वास्तविकता-प्रधान काव्य बौद्धिक दृष्टि को प्रधान मानकर चलता है, परिवर्तनशील सत्ता को प्रमुखता देता तथा आत्मा की अमरता के स्थान पर रक्तमांस की समस्याओं का सन्निवेश करता है। शैली, दृष्टि और मान्यताओं में भेद होने के कारण यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त पृथक् हैं, किन्तु मानव-हृदय की समरसता, सिद्धान्तों की चिन्ता न कर, काव्यमात्र में समान रूप से रस पाने की अभिलाषिणी होती हैं।

दोनों दर्शनों की अपनी अपनी उपयोगिता है। एक हमारे नैतिक और आध्यात्मिक आधारों की पुष्ट करता तथा दूसरा हमें सांसारिक सत्यों का साक्षात्कार कराता है। एक प्रत्यक्ष की ओर से बेपरवाह कर दिव्य शक्ति प्रदान करता है तथा दूसरा सांसारिक अभिज्ञता और अनुभूति-प्रवणता का पाठ पढ़ाता है। अपनी उन्नतावस्था में दोनों एक दूसरे के सहकारी सिद्ध होते है, किन्तु जब इनमें कट्टरता बढ़ जाती है, साम्प्रदायिकता आ जाती है, लीक बन जाती है तब ये एक दूसरे के विरोधी शिविरों में रहने लगते है।

उदाहरण के लिए कट्टर प्रत्यक्षवादी दृश्य वस्तु को एकमात्र सत्य कह कर वस्तु-विज्ञान का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं और द्रष्टा आत्मा की उपेक्षा करते है। वस्तु-तन्त्र इतिहास के पृष्ठों में भौतिक परिवर्तनों की ही मुख्यतः व्याख्या करता तथा उन्हें ही इतिहास के विभिन्न युगों की स्थितियों का प्रवर्तक तथा प्रधान हेतु बतलाता है। उनकी दृष्टि में धार्मिकता, आध्यात्मिकता या आदर्शवाद उच्च वर्गों, सत्ताधारियों की स्वार्थपूर्ण सृष्टि है। नैतिकता की उनके यहाँ कोई स्थिर सत्ता नहीं, केवल राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताएँ ही नीति का निर्माण करती हैं। वस्तुवाद की प्रायः सभी क्रियाएँ आदर्शवादी प्रक्रियाओं से भिन्न और उनके विपरीत हो जाती है। यह यौन समस्याओं का समाधान स्त्री-पुरुष के स्वेच्छा-सम्मिलन में मानता है और आदर्शवाद के त्याग, संयम आदि को अव्यवहार्य ठहराता है। प्रचलित समस्त व्यवस्थाओं और कानूनों को वह इसी विपरीत विचारधारा का परिणाम बताकर उनमें परिवर्तन या क्रान्ति चाहता है; मानो किसी काल-विशेष में किसी वर्ग-विशेष या मत-विशेष के कुछ चुने हुए व्यक्तियो ने एक बार जो कुछ कह दिया, वही आज का कानून और व्यवस्था है। यह व्यवस्था राष्ट्रों और जातियों के समष्टिगत अनुभवों का परिणाम है, ऐतिहासिक और प्राकृतिक सामाजिक प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का संघटित रूप है, यह

नहीं समझा जाता। नई स्थिति के अनुसार नवीन संस्कृति का निर्माण कोई नई घटना नहीं है। किन्तु यह निर्माण पूर्व (इतिहास) की पृष्ठ-भूमि पर ही होता आया है और हो सकता है, ऐसा न मानकर कट्टर वस्तुवादी केवल अपने नवीन विज्ञान के बल पर जो आपात क्रान्ति कर डालना चाहते हैं वह उनकी एकाङ्गी संकीर्ण दृष्टि तथा अव्यावहारिकता का ही भ्रान्त परिणाम कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कट्टर आदर्शवादी, जगत् और उसके समस्त वस्तुव्यापार को नश्वर कहकर, अपनी अलौकिक और ऐकान्तिक साधनाओं में लीन होते तथा प्रत्यक्ष मानवीय हितों की उपेक्षा करते हैं। समस्त लोक-व्यापार को जड़ता या बंधन मानने के कारण वे लौकिक बुद्धि और उसकी अशेष उपयोगिताओं का तिरस्कार कर डालते हैं। एक असीम अनंत से जगत् के दुःखों और कष्टों का उपचार व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक संभव है, दरिद्रता के पाप से किस प्रकार मुक्ति हो सकती है, त्याग और संयम के संदेशों का किन-किन हलकों में कैसा-कैसा दुरुपयोग होता है, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं। सारा जगत् समान रूप से मिथ्या होने के कारण अमीरी और गरीबी, स्वदेशी और विदेशी सब उनके लिए एक से हैं—जो प्रत्यक्षतः एक अन्याय या कम से कम अनभिज्ञता है। प्रायः इसी कारण स्थितिपालकता ही उनका लौकिक कार्य-क्रम बन जाता है और जब कभी वे गद्दियों और पीठों के स्रष्टा हो जाते हैं तब सत्ताधारियों का पक्ष लेते रहना तथा प्राचीन परंपराओं का पृष्ठपोषण करते जाना उनकी नई धार्मिकता बन जाती है। धर्म, अध्यात्म या आदर्शवाद के इसी रूप को लेकर उन पर विपक्षियों के आक्रमण हुआ करते हैं।

किन्तु इन अतिवादों के खतरनाक कगारों के बीच में आदर्श और वस्तुवाद, अध्यात्म और लोकव्यापार की काव्य-सलिलाएँ बहती हैं और मानवता को एक-सा जीवन-रस प्रदान करती हैं। देश और काल की विभिन्न स्थितियों में एक या दूसरे का प्राधान्य देखा जाता है। काव्य और संस्कृति के नए-नए परिवर्तनों में इनमें से एक या दूसरे की कला प्रस्फुटित होती है। किन्तु उनमें से अधिकांश एक-दूसरे से मिले-जुले ही रहते हैं। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जब प्रगतिशील संस्कृति से इनका संबंध छूट जाता है तब ये दोनों ही ह्रासोन्मुख हो जाते हैं।

यहाँ एक आवश्यक शंका का समाधान किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूछा जाता है कि कबीर आदि का निर्गुण-काव्य तो संन्यास-मूलक और अध्यात्मपरक है, किन्तु एक ओर उमर खैयाम और जायसी का सूफी काव्य तथा दूसरी ओर सूर और तुलसी का भक्तिकाव्य किस

प्रकार आध्यात्मिक माना जाय ? उसमें तो लौकिक चरित्रों, घटनाओं और वातावरणों का उल्लेख है। क्या उन कवियों की प्रस्तावना से ही हम उन चरित्रों को अलौकिक मान ले ? उत्तर मे निवेदन है—नही। उन काव्यों के सांप्रदायिक और सांकेतिक उल्लेखों को छोड़ कर भी उनका अध्ययन करने पर उनकी आध्यात्मिकता और लोकोत्तरता स्पष्ट हो जाती है। उमर खैयाम का अदृष्टवाद और उसकी निराशा-मूलक प्रेम-कल्पना सात्विक और आध्यात्मिक है, यह हम किसी भी क्षण उनकी रुबाइयों का अनुशीलन कर देख सकते है। जायसी ने यद्यपि लौकिक कथावस्तु उपादान-रूप में स्वीकार की है किन्तु काव्य का प्रवाह अलौकिक प्रेम की रहस्यपूर्ण मार्मिक अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण है। गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरित्र का त्याग और मर्यादा अलौकिक है तथा सूर का कृष्णकाव्य अपनी भावनामयता और आनन्द की अपूर्व बौछारों तथा सौन्दर्य की तल्लीनताओं मे एकदम अप्राकृत है। इसलिए प्रश्न यह नहीं होता कि किसी कवि के काव्य का उपादान क्या है। प्रश्न यह है कि किसी भी उपादान को लेकर उसने सृष्टि कैसी की है ?

काव्य में उपादान की नहीं, किन्तु 'निर्माण' की प्रधानता ऊपर के दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाती है। इसका सबसे सीधा प्रमाण यही है कि एक ही उपादान को लेकर विभिन्न कवियों ने नए नए निर्माण किये हैं जिनमे कुछ सफल, कुछ असफल, कुछ वास्तविकता-प्रधान, कुछ आदर्श-प्रधान, कुछ उन्नत और कुछ ह्रासोन्मुख हुए है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और तुलसी में क्रमशः वस्तुमूलक व्यावहारिक और भावमूलक आध्यात्मिक प्रेरणाएँ प्रधान है। दोनों की कथावस्तु एक ही है, किन्तु अभिव्यक्तियाँ भिन्न है। दोनों ही अपने अपने स्थान पर उन्नत अभिव्यक्तियाँ है। निष्कर्ष यह कि काव्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐसे दो बौद्धिक विभाग नहीं किए जा सकते, यद्यपि ये दार्शनिक विभाग काव्य के इतिहास में अपना प्रचुर प्रभाव सदैव रखते आए है और भविष्य मे भी रक्खेंगे। विशेष कर पश्चिम मे, जहाँ ये दो अलग अलग कठघरे बने हुए हैं जिसके कारण धार्मिक रहस्य-काव्य की अलग ही धारा वही है और आध्यात्मिक मसीहाओं (prophets) का अलग ही दल तैयार हो गया है, प्राकृतिक रहस्य-काव्यों की आध्यात्मिकता स्वीकृत नहीं हो सकी है जिससे वहाँ के काव्य-विकास में और काव्य के मूल्य-निर्धारण में अनुल्लघनीय बाधाएँ समय समय पर आई है। लौकिक और अलौकिक ये दो पृथक् स्तर हैं तथा इनका सम्मिलन सम्भव नहीं है यह भ्रान्त धारणा ही इसके मूल में है। रस्किन और टेनीसन की धार्मिक अध्यात्मोन्मुख

कृतियों का शेली, कीट्स आदि की प्रकृत आध्यात्मिक रचनाओं से श्रेष्ठ समझा जाना इसी गलतफ़हमी का परिणाम है।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि काव्य में परिवर्तन इन बौद्धिक वादों-प्रवादों के फलस्वरूप हुआ करता है। काव्य में परिवर्तन मुख्यतः राष्ट्र या जाति की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों की प्रेरणा से ही होता है। यह बहिरङ्ग हेतु है तथा अतरङ्ग हेतु है काव्य में नवीनता की बद्धमूल आकांक्षा। कभी कभी कवि की निजी असाधारण अनुभूतियाँ अथवा बौद्धिक धारणाएँ भी काव्य को नूतन स्वरूप देती है; किन्तु ऐसा कम ही अवसरों पर होता है। मुख्यतः ऐतिहासिक कारणों से काव्य नए रूप-रङ्ग धारण करता है। यह भी कह सकते है कि इन्ही ऐतिहासिक कारणों से उक्त वाद-प्रवाद भी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करके राष्ट्रीय और जातीय रङ्गमचों पर आया करते है। इस प्रकार काव्य और दर्शन दोनों ही इतिहास की वस्तुएँ सिद्ध होती हैं। परिवर्तन काव्य का नियम बन जाता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ में जो दोनों (भक्ति और शृङ्गार की) ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं उनके गतिक्रम में परिवर्तन सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी काव्याकाश के तारक-मडल ने किया। इन नए उन्नायकों ने एक नई सुकोमल दीप्ति और वेदना की एक दिव्य छटा छा दी। रूखी रूढ़ियों में एक वैयक्तिक आत्मा की आर्द्रता उत्पन्न हो गई।

एक नवीन मानव-आदर्श का शिलान्यास हुआ जिसके दो अंग हुए—देशभक्ति और मानवीय प्रेम। उस प्रेम में एक स्वर्गीय मृदुता थी, राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम की परछाहीं पड़ी हुई। देशभक्ति स्वभावतः अपने आरम्भिक स्थूल रूप में आई; वेदना का जागृत और अन्तर-व्यापी साहचर्य उसमें न था। उक्त प्रेम की झलक हमें तत्कालीन नाटकों में विशेषतः मिलती है और देशभक्ति छोटी छोटी मुक्तक कृतियों में।

तथापि लोक और परलोक, शृङ्गार और भक्ति के दोनों कुलावे अलग ही अलग रहे। आध्यात्मिक या पारलौकिक आदर्श तो भक्ति थी, और लौकिक व्यवहार उक्त शृङ्गार का पल्ला पकड़े हुए थे। यह द्विधात्मकता उस समय के काव्य में सुस्पष्ट थी।

लौकिकता या लोक-जीवन अलौकिकता से वस्तुतः भिन्न नहीं है, यह मानव-काव्य की प्रथम प्रेरणा उन प्रेम-कथानकों में मिली। अलौकिक भक्ति में प्राकृतिक अध्यात्म का यह पहला पुट पड़ा।

इसी समय स्वर्गीय श्रीमहावीरप्रसाद जी द्विवेदी के आगमन से एक उच्च कोटि का नैतिक बुद्धिवाद हिन्दी में प्रसरित हुआ। प्रेम और

शृङ्गार नाम की वस्तुएँ साहित्य से लुप्त हो चली। इसके साथ ही भक्ति-काव्य भी, जो शृङ्गारिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित था, उपेक्षित होने लगा। इन दोनों के बदले देशभक्ति और नैतिक मानवता की प्रतिष्ठा होने लगी। श्रीमैथिलीशरण गुप्तजी की 'भारत भारती' और श्रीअयोध्यासिंह उपाध्यायजी का 'प्रिय-प्रवास' इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं।

कृष्ण और राम के चरित्र अब भी काव्य-वस्तु के रूप में रहे; उनकी लोकोत्तरता का पूर्ण पर्यवसान नहीं हो सका। उपाध्यायजी के प्रशान्त संयम और गुप्तजी की करुणापूर्ण भावुकता में विशुद्ध मानवता परिस्फुट नहीं हो सकी; अभी उनमें अलौकिकता शेष थी।

यही कारण है कि उन तथा उस युग के अन्य कवियों ने मानव-चरित्र के स्तर पर केवल बड़े बड़े वीरों, महापुरुषों अथवा लोकनायकों को ही उतरने दिया। उनमें भी अधिकांश पौराणिक तथा कुछ मध्यकालीन राष्ट्र-नेताओं के चरित्र थे। अलौकिक लोकोत्तरता के स्थान पर मानवीय लोको-त्तरता का आगमन हो गया।

यद्यपि श्रीधर पाठक प्रभृति अन्य कतिपय कवियों ने द्विवेदी-युग की इस लौकिक लोकोत्तरता से ऊब कर प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना की तथा सामान्य जीवन से सम्बन्धित 'ऊजड ग्राम' आदि कृतियों का अँगरेजी से उल्था किया, तथापि धार्मिक या अलौकिक अध्यात्म के स्थान पर पूर्ण मानव और प्राकृत अध्यात्म का आगमन हुआ स्वर्गीय श्रीप्रसाद जी के हिन्दीक्षेत्र में प्रवेश करने पर।

निराला, प्रसाद और पन्त के अधिनायकत्व में हिन्दीकाव्य का अपूर्व कायाकल्प हो गया। कल्पनाशील कवियों की टोली अपनी मानवीय अश-रीरी सौन्दर्य-पूर्ण रचनाओं से नई ही छटा छाने लगी। यह टोली कुछ छोटी-मोटी न थी, न उनके काव्य की दिशाएँ सीमित थीं। अनेक दिशाओं में नए युग की मन्त्र-ध्वनि गूँज रही थी। निराला की प्रज्ञायुक्त कल्पना, प्रसाद की रहस्यमयी भावना और शक्तिमत्ता, पन्त की मनोहारी सौन्दर्य-सृष्टि, नवीन और मिलिन्द की विद्रोही भावुकता, सुभद्राकुमारी की अति सरल आत्माभिव्यक्ति, माखनलाल जी की चमत्कारिक निगूढ़ व्यंजना, सियारामशरण जी की सामाजिक और बौद्धिक लघुआख्यान-रचना सभी नई नई सृष्टियाँ थीं और इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ काव्य में काम्य वैविध्य का सचार करने लगीं।

किन्तु ये सभी कवि एक विशेष युग की एक विशेष काव्यधारा के प्रतिनिधि हैं। इनकी विविधता के भीतर एक समता का स्रोत भी है। कतिपय समीक्षक इनके साम्यसूत्र को नहीं परख पाये हैं, इसलिए वे यदा-कदा भ्रान्ति में पड़ जाया करते हैं। अपनी विशेष रुचि के अनसार वे

इनमें से एक या दूसरे की ओर आकर्षित हों, यह उतना अनुचित नही जितना उस रुचि-विशेष को मापदड बनाकर बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर देना। अभी एक साहित्यिक समीक्षा में निराला जी की 'सरोज-स्मृति' नाम की उत्कृष्ट रचना को एक अति साधारण रचना से भी हीन इस आधार पर ठहराया गया था कि वियोग मे सुध-बुध खोकर मूर्च्छित होने का उल्लेख निराला जी की उक्त रचना में नही है। संयमित अनुभूति-प्रवणता से उक्त समीक्षक परिचित ही नही जान पड़ते। यह कितनी हँसी और साथ ही दुःख की बात है।

जो सूत्र इस कविवर्ग को एकतार ओर एकतान किए हुए है, वह है मानव-जीवन का प्रकृत अध्यात्म, जिसे छायावाद का व्यापक नाम दिया गया है। पूर्ववर्ती स्थूल लोकोत्तरता के स्थान पर यह सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति छायात्मक ही कही जा सकती है। इस काव्य की आध्यात्मिकता भी सुस्पष्ट है, यद्यपि वह रूढ़ अध्यात्म नही है। अधिकांश छायावादियों की दार्शनिक भित्ति वेदान्त या उपनिषद् है। वे आत्मा की सत्ता स्वीकार करते है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य मे दो मुख्य विशेषताएँ ऐसी हैं जो उन्हें आध्यात्मिक सिद्ध करती है। प्रथम तो उनमे दुःख या निरात्म अन्तिम सिद्धान्त के रूप मे गृहीत नहीं। दूसरे उनमे स्थूल-इन्द्रियता का कहीं भी उल्लेख नही है। उनकी सौन्दर्य-भावना है मानवीय, किन्तु अतिशय सूक्ष्म—आध्यात्मिक।

मेरे इस कथन के अपवाद भी, सम्भव है, मिलें। किन्तु उन अपवादों से नियम की पुष्टि ही होगी। दुःख के आलकारिक वर्णन तो बहुत मिलेंगे, किन्तु दुःख मे डूबा हुआ निरात्म दर्शन छायावाद मे विरलता से प्राप्त होगा। दुःख की वास्तविक और प्रांजल अभिव्यजना मुझे 'कामायनी' काव्य के कुछ स्थलों में जैसी प्रखर, उत्तप्त और अधकाराच्छन्न मिली, अन्यत्र वैसी कही नही देख पड़ी। किन्तु दुःखरूप दर्शन और तज्जन्य विद्रोह छायावाद काव्य में नहीं देख पड़ता। यह विद्रोह उस अवस्था का द्योतक होता जब दुःख की सत्ता अखंड जीवन की अनुभूति को असम्भव कर देती, जब शैल-शिखर के नीचे आकर यात्री निरुपाय होकर रुक जाता। महादेवी वर्मा जी का दर्शन यद्यपि दुःख पर स्थित है, किन्तु वह दुःख बौद्धिक और आध्यात्मिक भूमि में उतरने का उपक्रम-मात्र बन गया है।

इन्द्रियता के सम्बन्ध में छायावाद काव्य स्थूल भूमि पर नहीं उतरता। उसकी अभिव्यक्तियाँ उच्च मानसिक स्तर पर है और अधिकांश छाया-रूप। कहीं-कहीं—जैसे पंत जी की 'उच्छ्वास की बालिका' और 'ग्रन्थि' के वर्णनों में—जहाँ साकारता आए बिना नही रही वहाँ भी वह सांकेतिक

ही रक्खी गई है। कुछ आलोचक तो इसी सांकेतिकता को छायावाद का मुख्य विशेषण मानकर उस पर प्रच्छन्न इन्द्रियता का अनुचित आक्षेप करते है। किन्तु छायावाद काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर यह आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाता है।

यदि द्विवेदी-कालीन काव्य की तुलना रविवर्मा की कला से तथा छायावाद की तुलना परवर्ती 'इण्डियन आर्ट' से की जाय तो मेरे विचार से इनमे साम्य की एक बड़ी मात्रा मिलेगी। क्या उपादानों का चुनाव, क्या चित्रण-शैली, क्या दार्शनिक दृष्टि, क्या कलाकारों की रुचि और संस्कृति, सभी परस्पर मिलते-जुलते है। क्या ही अच्छा हो यदि इस साम्य के आधार पर सामयिक काव्य और चित्रकला पर एक तुलनात्मक निबन्ध लिखा जाय जिससे इस विषय पर ईप्सित प्रकाश पड़े।

सम्प्रति एक विद्रोह छायावाद की सूक्ष्म आध्यात्मिकता, अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना ओर भावातिरेक के विरुद्ध उठ रहा है जिसके उन्नायकों मे 'अचल' एक प्रमुख है। इसका यथार्थ स्वरूप अभी स्पष्ट नही हो सका है, यद्यपि इसे वस्तुवाद, मार्क्सवाद, हंसिया-हंथौड़ावाद, रोटीवाद, प्रगतिशील साहित्य आदि बहुत से नाम दिये जाते है। अभी यह निर्माणावस्था में है। इसका कोई सुनिश्चित दर्शन हो ही, ऐसा आग्रह भी नही किया जा सकता। अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देने के लिए अथवा मार्गोपदेष्टा बनने के लिए कई प्रकृत छायावादी भी इस क्षेत्र मे आ रहे है, जैसे छायावाद का आरम्भ होने पर कई प्राचीन पथिक नई भूमि मे पदार्पण करने लगे थे। पता नही, उन्हें इस क्षेत्र में कहाँ तक सफलता मिलेगी। जो लोग कविता को हृदय या आत्मा की वस्तु मानते है, उन्हें इन प्रयासों की कृत्रिमता अवश्य खटकेगी।

प्रगतिशीलता मनुष्य का गुण हो सकता है, काव्य का गुण तो है उसमें व्यक्त अनुभूतियों की सचाई, मर्मस्पर्शिता और सौन्दर्य। प्रत्येक मनुष्य प्रगतिशील कहलाने की इच्छा कर सकता है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य ये काव्यगुण कहाँ से लावेगा? हम दूसरों को अपना दूसरा रूप दिखा सकते है, किन्तु अपने आपको कैसे ठगा जा सकता है? इसलिए मेरा निवेदन है कि इस नई भूमि में वे ही आकर सफल हो सकेंगे जिनमें वह ज्वलन्त नैसर्गिक अनुभूति है। मुझे यह भी अभीष्ट प्रतीत होता है कि प्रगतिशीलता का मोह काव्य और कलाओं के क्षेत्र से दूर कर दिया जाय, और इसका मुख्य उपाय है साहित्य में समदर्शी (Catholic) दृष्टि का प्रचार करना, काव्य के उत्कर्ष को सामवादों के उत्कर्ष से सदैव ऊपर रखना और किसी भी वाद को यिकता या प्रगतिशीलता का एकमात्र प्रमाण न मान लेना। यदि इन उपायों से

काम लिया जाय तो हिन्दी-काव्य का आगामी उत्थान प्रकृत और अबाध गति से हो सकेगा। जब गांधी जी की राजनीति आध्यात्मिकता पर प्रतिष्ठित होकर भी आधुनिक हो सकती है तब साहित्य में यह नियम अपवाद क्यों हो ?

यहाँ मुझे कहना है कि नवीनता के नाम पर जो-जो वाद आविर्भूत हुए और चल रहे हैं, वे सबके सब वास्तविक काव्य-सृष्टि के हेतु नहीं हो रहे हैं तथा कहीं-कहीं तो शुष्क वाद-मात्र सिद्ध होते हैं। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि कविगण अपनी प्रकृति और स्वाभाविक प्रतिभा का अनादर कर नये क्षेत्र में आगन्तुक (Foreigner) से बन जाते हैं। जिस व्यक्ति को अत्यावश्यक काव्यानुभूति और कला की अभिज्ञता नहीं है, वह किसी भी प्रगतिशील वाद का सहारा लेकर कुछ कर नहीं सकता। इन आरम्भिक अनुकथनों के बाद मैं यह कहूँगा कि 'अंचल' इन अपवादों से ऊपर हैं; वह किसी वाद की नियोजना नहीं कर रहा, केवल काव्य कर रहा है। इसलिए वह क्रमागत काव्य-धारा से सर्वथा टूटकर अलग नहीं हो गया है, उसका क्रम-विकास सुरक्षित है।

किन्तु वह क्रम-विकास छायावाद की मुख्य धारा से भिन्न अवश्य है, इसका सबसे सीधा प्रमाण मेरे निकट यह है कि आरम्भ से ही उसके हिन्दी में आने पर मेरे मन में उसके प्रति एक विराग, एक उलझन उत्पन्न हो गई थी। इस विराग और उलझन का एकमात्र कारण यह था कि छायावाद की मंजु-मनोरम भावनाओं के रसपान के पश्चात् इस विद्रोही के 'गँदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे।' गँदले गीत' से यहाँ मेरा मतलब साकार और स्पष्ट शृङ्गारिक निर्देशों से है। यही नहीं, जब मैंने अंचल को अपने लिए पापी और विलासी विशेषण प्रयोग करते देखा ('जल जल उठते कितने पागल पापी प्राण विलासी'), तब आश्चर्य की सीमा नहीं रही। आश्चर्य इस कारण और अधिक हो गया था कि उन दिनों अंचल अकेला इस तरह की रचनाएँ कर रहा था। इसीलिए आरम्भ में मैंने उसे क्रान्ति का स्रष्टा लिखा है।

सत्य की रक्षा के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अंचल के कुछ पहले ही एक बौद्धिक हलचल छायावाद के कतिपय सीमान्तों में उठ चुकी थी। उनमें से एक महादेवी वर्मा जी के काव्य की चित्रात्मकता के रूप में परिणत हो गई। उनके काव्य के इस बौद्धिक पहलू की ओर ध्यान न देकर जो लोग उन्हें मीराबाई की सहज परम्परा में मानते हैं, वे काव्य-कला के प्रति अन्याय करते हैं। अस्तु, दूसरी हलचल भगवती-चरण वर्मा जी की दुःखात्मक मादकता बनकर रह गई। बहुत पीछे

वहा 'कलकत्ते की ट्राम' और 'भैसा गाड़ी' के रूप मे प्रकट हुई। अचल इसके कई वर्ष पूर्व 'कनक रेणुका रानी' की समाधि पर अपने तृष्णा के गान गाने लगा था। हरवंशराय बच्चन तब तक अज्ञात और 'अज्ञेय' अविज्ञात थे।

मैं कह चुका हूँ कि इन 'खुले', 'बोलते' या 'गँदले' गीतों के लिए मैं तैयार न था। किन्तु इनमें एक अनोखा चटकीलापन तथा इनके निर्माण मे एक विलक्षण वेदना का प्रत्यय मिल रहा था। कुछ ही प्रयास से मैं जान सका कि अंचल स्मृति का पुजारी और विरह का उपासक कवि है। सौन्दर्य के प्रबल आकर्षण, दैव के कठोर आघात और यौवन-सुलभ भावोद्वेग ने मिल कर उसे विद्रोही बना दिया है। यद्यपि विद्रोह की उत्पत्ति दैवदुर्विपाक से ही हुई, किन्तु उसका असर काव्य मे व्यापक रूप से फैला हुआ है।

यहाँ पुनः एक प्रासगिक प्रश्न उपस्थित होता है। कहा जाता है कि यह अति नवीन कविवर्ग भोगवादी है। भोगवाद के मूल में वस्तु-वाद की दार्शनिक उपपत्ति को कारण बतलाते हैं। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। योरप में वस्तुवाद प्रधानतः सामाजिक दुःखात्मकता की नीव पर स्थापित है और उसके अधिकांश कवि भोगेच्छा से नही—नैराश्य से अनुप्रेरित हैं। कुछ लोग उमर खैयाम को, जो आधुनिक काव्य का एक मुख्य प्रेरक है, भोगवादी समझते हैं। इससे बढ़कर नासमझी और क्या होगी! उमर खैयाम चतुर्दिक नैराश्य के वातावरण में प्रेम की एक मीठी, अतिमीठी कल्पना करता है। वह प्रेम भोगोन्मुख नहीं—एकदम आध्यात्मिक है। कुछ लोग यह भी आक्षेप करते हैं कि उमर खैयाम के निराशावाद या बुद्ध के क्षणिकवाद को फैलाने का अनौचित्य आधुनिक कवि कर रहे हैं। इस सबन्ध में पहली बात तो यह है कि वाद किसी व्यक्ति-विशेष के उत्पन्न किए या फैलाए नही फैलता। सामूहिक स्थिति ही किसी वाद की सृष्टि और प्रसार करती है। और, दूसरी बात यह है कि वाद कोई भी हो, हमें उस वस्तु का निरीक्षण करना चाहिए जो उस पात्र में रक्खी है। ससार को क्षणिक और दुःखपूर्ण प्रायः सभी आध्यात्मिक दर्शन, वे भारतीय हों या अभारतीय, मानते हैं। आधुनिक काव्य में इसका प्रवेश पाना कुछ भी अनुचित नहीं। देखना यह है कि कवि अपने दर्शन के आधार पर मनोरम सृष्टि कर रहा है या नही। संसार को क्षणिक मानकर वह स्वय किस ओर जा रहा और हमे कहाँ ले जा रहा है। निराशा और दुःख की जो अनुभूतियाँ देकर वह हमें द्रवित कर रहा है, उनका निर्माण वास्तविक या केवल काल्पनिक आधार पर किया गया है। वे हमें सहनशील बनाती और

आत्म-साधना की ओर ले जाती हैं या केवल क्षीण भावुकता और उत्तेजना उत्पन्न करती है। विद्रोह करती है तो आवश्यक शक्तिमत्ता के साथ, या केवल शाब्दिक विद्रोह। संक्षेप में वह काव्य ह्रासोन्मुख है या विकासोन्मुख।

भोग विकासोन्मुख काव्य का लक्षण नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भोग स्वतः कोई अनुभूति नहीं है। वह इन्द्रियों की विवशता-मात्र है। काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएँ हैं। दोनों का सामजस्य असंभव है। जब-जब ये दोनों एक दूसरे के निकट आए हैं, काव्य की अधोगति हुई है। दरबारी कवियों का दृष्टान्त सबकी आँखों के सामने है।

मुझे स्मरण है, दस बारह वर्ष पूर्व जब छायावाद की प्रारम्भिक प्रतिष्ठा हो रही थी, पंडित रामचन्द्र शुक्लजी ने उस पर कायवृत्तियों के प्रच्छन्न पोषण और प्रकाशन का आरोप किया था। किन्तु छायावाद की प्रगति ने उनके उस आरोप को अयथा सिद्ध कर दिया है। आज मेरे मन में भी वैसी ही एक शंका हिन्दी-काव्य की आगामी प्रगति के सम्बन्ध में उठ रही है। यद्यपि रसानुसार काव्य के प्रतीकों और उसकी गतियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक और अवश्यभावी ही नहीं—अतिशय उपादेय भी है, किन्तु मुझे आशा करनी चाहिए कि नवीन परिस्थिति से उत्पन्न नए जीवन-स्रोतों में डूब कर भी हमारे कविगण अपनी आत्मा और विवेक के रत्नों को डूबने नहीं देंगे।

यौवनसुलभ सौन्दर्य की लालसा, जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है। निस्संगता का अन्दाज हमें चित्रण की परिपुष्ट और सुनियमित (Graphic) रेखाओं, मुद्राओं, इंगितों और उन उद्दीपनों द्वारा लगेगा जो उसमें नियोजित हैं। जहाँ सौन्दर्य का विवरणात्मक सुशोभन वस्तुचित्र-मात्र है तथा चित्रण में उच्चकोटि का मानसिक अध्याहार भी है, वहाँ उस सौन्दर्य की प्यास, लालसा या तृष्णा अपवाद योग्य नहीं है। काव्य में सर्वत्र 'क्या' के स्थान पर 'कैसा' प्रश्न ही उपयुक्त होता है!

दुःख और विषाद की पृष्ठभूमि पर ये तृष्णा, लालसा और प्यास और भी खिलती है। मैं कह चुका हूँ कि अंचल मुख्यतः विनष्ट सौन्दर्य की विषण्ण स्मृतियों का गायक है। किन्तु यत्र-तत्र 'संयोग' शृंगार के जो चमकीले वर्णन मिलते हैं वे विवरणपूर्ण वस्तुमत्ता तथा प्रचुर कल्पना-प्रवणता के कारण प्राकृतिक सुषमापूर्ण ही हुए हैं, यद्यपि उत्तेजनाशील इन्द्रियता भी कहीं कहीं है। तथापि यहाँ अंचल

के काव्य का एक क्रमबद्ध किन्तु संक्षिप्त अनुशीलन कर लेना अधिक अच्छा होगा।

'मधूलिका' और 'अपराजिता' ये ही दो अंचल के काव्य-संग्रह हैं। ये दोनों ही नाम छायावादी हैं और यह शंका उत्पन्न करते हैं कि अंचल ने पुरानी लीक छोड़ी भी है या नहीं। कुछ लोग, सम्भव है, यह भी कहने को तैयार हों कि अंचल ने छायावाद के साथ वही सलूक किया है जो लखनऊ के ह्रास-कालीन कवियों ने पूर्ववर्ती उर्दू कविता के साथ किया था। खुमारी, मादकता और उत्तेजना ही उसकी देन है। यह विषय विवादग्रस्त हो सकता है। किन्तु मेरे मन में इस विषय की शंका नहीं है कि अंचल में ह्रासोन्मुख प्रतिगामिता नहीं—जीवन क्रान्ति के लक्षण हैं। अंचल के स्वरों में प्रसुप्त और क्षीण नहीं—जागृत और प्रदीप्त अतृप्ति का विह्वल रोदन है—

> वासना बस कुछ न पूछो, है विरस निष्फल जवानी,
> प्रखर अनियंत्रित महाविच्छेद की जलती निशानी।
> ले प्रलय सी एक आकांक्षा विपुल बरबाद यौवन—
> मिट रहा अतृप्त बंचित लख न पाई तुम अचेतन।

अथवा—

> आज की रजनी बड़ी लोलुप जलन से तप्त लघुपथ,
> आज निद्रा भी न आती, कौन अन्तर है रहा मथ।
> आज से जीवन मरण में रह गया कोई न अपना,
> आज तो बस प्राण ले लेगा भयंकर रूप सपना।

आदि पंक्तियों में यह स्वर विशेष स्पष्ट है। इसका दूसरा प्रमाण यह भी है कि अंचल अपनी विद्रोही भावना के बल से उन्हीं दार्शनिक भूमियों पर आया है जिन पर अन्य नए क्रान्तिकारी आये हैं। एक तीसरा प्रमाण यह है कि नियोग की दृष्टि में वह माधुर्य-पुंज को जला रहा है—वही माधुर्य-पुञ्ज जो खुमारी, मादकता आदि में परिणत होता है। इसलिए पुस्तकों के नामों के आधार पर कोई निष्कर्ष न निकाल कर हमें उनके अंतरंग में प्रवेश करना होगा।

प्रसन्नता की बात है कि 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में अंचल के काव्य का एक सुन्दर क्रम निरूपित है। 'मधूलिका' में तृष्णा की प्रथम पुकार (आवाहन), रूपपरी या रतिरानी का आगमन, प्रणय-निवेदन, तृष्णा की जागृति और तृष्णारूप पाप का समर्थन (सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता, किसे प्यास नहीं लगती), 'वेणी बंधन' आदि की सुन्दर वर्णना और अचानक ही रूपपरी का जलती निशानी छोड़ कर अदृश्य हो जाना—यह सारा ऊपर का

वर्णन मानो आगे आनेवाले 'महाविच्छेद' की प्रस्तावना-मात्र बनकर रह जाता है।

अचल की विरह-साधना में बड़ी ही एकनिष्ठ, सजग, विह्वलताकारी तथा जीवनमय अनुभूतियों का संग्रह है। कवि के वास्तविक विद्रोह का यहीं से आरम्भ होता है। 'अरमानों और साधों की अशेष आहुतियाँ' डाल कर उसने विरह-वह्नि को जगा रक्खा है। नैराश्य की तमिस्रा में जीवन पर एक दृष्टि डालने के लिए उसे इस आग का ही सहारा है। अतः उसका तमाम दर्शन इस आग की आँच से प्रज्वलित और पिघला हुआ है।

'सखी' नामक रचना में अंचल के दार्शनिक विचारों की एक झलक मिलती है। इनका एक क्रम बना कर उपस्थित करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि ये क्रमबद्ध होकर भी उतने ही संगत या असंगत होंगे जितना बिना क्रम के। 'आज ही, वर्तमान क्षण ही, सब कुछ है, भविष्य की क्या आशा। कल होगा, इसका निश्चय क्या? (प्रेम के) नशे में उन्मत्त होना ही सुख है। वृद्धावस्था आने पर कधों के लिए माथे का भार भी दूभर हो जायगा। मंजिल की परवाह न कर चलते ही रहना है। सभी अपने आप में मस्त हैं, यहाँ हमें कोई ढूँढ़ेगा, यह आशा ही व्यर्थ है। यौवन का उभार और मदिरा (प्रेम-तन्मयता) का ज्वार जो अभी है, फिर बहुत दिनों तक न मिल सकेंगे। सबको अपनाते हुए, सबसे हृदय मिलाकर चलना ही सार है। हम चाहे किसी को न भाएँ, हमको सब भाते हैं।'

'संसार में दुःख-पीड़ा देखकर व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। प्रेम के दीवानों ने जगत् के दुःखों को ही सुख मान लिया है। अभी जीवन में कितने ही झंझावात (अंधड़) चलेंगे। कितने बार दीप बुझेंगे। इनकी क्या चिन्ता? हम सदा पुलकित और प्रहर्षित रहेंगे।

उर में आग नयन में पानी,
होठों में मुसकान सजा;
हम हँसते इठलाते चलते,
इतरा इतरा बल खा खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय को
लहरों में खुल खेलें हम।
आज भाग्य के उल्कापातों
को हँस हँस कर झेलें हम।"

ये काफी संवेदनापूर्ण और दुखी मनस्थिति के द्योतक हैं। अंचल की ये अनुभूतियाँ अधिकांश वैयक्तिक हैं, किन्तु इन्हीं में उस समवेदना

का स्रोत भी निहित है जो आर्त और पीड़ित-मात्र के प्रति प्रेम से उद्विग्न हो उठती है। उसके काव्य का यह दूसरा पहलू भी दर्शनीय है—

और चलीं तूफान फूँकती वे पथ-कन्याएँ सतप्त,
जिनकी कृश जघाओं पर संघर्ष मनाते थे उन्मत्त;
जिनकी छाती के गड्ढों पर दीप वासना के जलते,
जिनके नील कपोलों पर मतवाले गाहक मुख मलते।

और, उन मतवाले गाहकों (अमीरों) का जघन्य परिचय उसने इस प्रकार दिया है—

जिनकी आँखों में मदिरा नस नस में कामुकता उद्दाम,
बर्बर पशुता से लयपथ जो पी जाते नारी के जाम;
किन्तु तनिक दिन ढलते ही ठुकरा देते जो भस्म समान,
तृपित सतृष्ण दृगों से लखने को जघन्य औरों का काम।

अवश्य यह जघन्यता केवल नारी के उत्पीड़क इन नर-कीटों तक ही सीमित नहीं है। वह और भी बहुत व्यापक है। किन्तु अचल का यही मुख्य काव्य-विषय होने के कारण उसने इन्हीं का उद्धरण देकर इन्हीं के प्रति विद्रोह प्रकट किया है।

यही अंचल ने प्रचलित प्रथा के अनुसार ईश्वर पर भी छींटे कसे हैं। देवताओं को तो वह प्रेमी जनों की साधना का दृश्य दिखा कर ही संतोष करता है—

इन अमरों को आज दिखा दे,
कैसे प्रेमीजन होते।
कैसे प्यासे प्यास बुझाते,
कैसे मधुप मगन होते।

किन्तु ईश्वर पर उसका आक्रोश अधिक उग्र है—

ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्म प्रवंचक एक,
जिसके प्राणों में विस्मृति है उर में सुख श्री का अतिरेक।
जिसका ले ले नाम युगों से माँस लुटाते तुम रोये,
किन्तु न चेता जो निशि-निशि भर जब न क्षुधातुर तुम सोये।
आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अस्त रौरव पोषक,
अरे, वही दुर्दान्त महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक।

आक्रमण के लिए ईश्वर के बराबर सस्ती और महत्त्वपूर्ण वस्तु मिल ही क्या सकती है, खास कर भारतवर्ष में जहाँ कोई सघटित 'चर्च' है ही नहीं! किन्तु इससे सिद्ध होता है कि भारतीय धार्मिक इतिहास का स्वतंत्र अध्ययन न कर किस प्रकार पश्चिम की सुनी-सुनाई पद्धति का अंधानुकरण किया जा रहा है। आवश्यकता है भारतीय राष्ट्रीय इतिहास

के अध्ययन की और तदनुसार ही काव्य की गति निर्धारित करने की। ऐसा न होने से शक्तियों का अपव्यय होता है तथा सच्ची राष्ट्रीयता के निर्माण में अड़चन आती है। आशा है अचल के अतिरिक्त अन्य कवि-गण भी इस राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान देंगे। कवियों के हाथों में राष्ट्र-निर्माण का दायित्व सदा रहा है और सदैव रहेगा—यह बात दूसरी है कि वे इस जिम्मेदारी से छूटने की सस्ती चेष्टा करें। किन्तु यह दूरदर्शिता नहीं—एक घातक चेष्टा ही कही जायगी।

'अपराजिता' में अचल की अनुभूतियाँ अपेक्षा से अधिक व्यापक और बहुमुखी हो गई हैं। यद्यपि 'अपराजिता' आद्यत एक वियोग-काव्य है किन्तु वियोग के अंतर्गत कवि की अनेकानेक अन्तरवृत्तियों और मनोदशाओं का समारोह देखने योग्य हुआ है। इन पद्यों को पढ़ने पर यदा-कदा वाइरन और माइकेल मधुसूदनदत्त का स्मरण आता है। इसमें एक वैयक्तिक प्यास और विपण्णता है जिसके कारण यह 'उत्तररामचरित' के स्मृतिबहुल विशुद्ध करुण संगीत से भिन्न है। न इसमें 'उत्तररामचरित' का सा प्रकृति का प्रशस्त रंगमंच है। किन्तु अचल की वैयक्तिकता सर्वथा ऐकान्तिक नहीं है न उसमें कोरी कल्पना की प्रधानता है। वैयक्तिकता में जहाँ ऊपर लिखी आशंकाएं होती हैं वहीं उसकी एक विशेषता भी है। बिना वैयक्तिकता के विद्रोह पनप नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अचल का विद्रोह इसी वैयक्तिक पहलू को लेकर है।

पूछा जा सकता है कि इस वैयक्तिक पहलू को लेकर विद्रोह हो कैसे सकता है? किसी आकस्मिक, दैवी या वैयक्तिक घटना से भी क्या कभी विद्रोह की सृष्टि हुई है? यदि वह हो भी तो केवल अदृष्ट या दैव के विरुद्ध ही तो होगी? विस्तीर्ण मानव-जगत् से उसका क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नों का उत्तर पाठकों को 'अपराजिता' पढ़ लेने पर मिलेगा। वे देखेंगे कि सम्पूर्ण काव्य में एक आकस्मिक घटना कितने विद्रोही भावों की सृष्टि करती है—वियोग और विद्रोह किस प्रकार एक दूसरे से होड़ करते हुए चले हैं। किस प्रकार एक की शक्तिमत्ता दूसरे को जीवनव्यापी बनाती है—

बीच भँवर में पाल गिरा कर ओ नैया के खेने वाले!
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुँच जाते मतवाले।
लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर;
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अंतर।
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तों में झुकता;
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता।

तो भी 'अंचल' का मुख्य कार्य अपराजिता में वियोग की उन्मादिनी अनुभूतियों का प्रकाशन ही है। उसकी तृष्णा की नई पुकार नए युग की प्रतिध्वनि है। इस नई पुकार का एक भविष्य भी है--वही जिसे मैं अचल की 'क्रान्ति-सृष्टि की नैसर्गिक सीमा' ऊपर कह चुका हूँ। तभी यह तृष्णा की पुकार युगवाणी के रूप में परिवर्तित हो सकेगी। काव्य के इतिहास में इसे छायावाद के एक श्रेणी आगे की सृष्टि सिद्ध होना चाहिए। इसके लिए इतना ही आवश्यक नहीं कि छायावाद की निराकारता के स्थान पर साकारता की अभिवृद्धि हो, वैयक्तिक भावुकता के स्थान पर निस्सग वैज्ञानिकता का भी आगमन होना चाहिए। चित्रणों में अधिकाधिक वस्तुमत्ता (Objectivity) का सौन्दर्य आना चाहिए और युग-जीवन की प्राणमयी धाराओं का यथार्थ सचय होना चाहिए। जहाँ-जहाँ जीवन की गतियाँ अवरुद्ध हैं वहाँ-वहाँ कवि की संवेदना सबसे पहले पहुँचनी चाहिए। युग की वास्तविकताओं को खुले दिल और खुली आँखों न देखकर उन्हें अभिशाप मानने और उनसे दूर भागने की चेष्टा जितनी प्रतिगामिनी है, उतना ही प्रतिगामी है नकली और ह्रासोन्मुखी सामाजिक प्रवृत्तियों को नैतिकता और वास्तविकता का बाना पहनना। जिस प्रकार निराधार भावुकता आध्यात्मिक या आदर्शवादी साहित्य का एक दूषण है, उसी प्रकार सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि जिस समय जैसी प्रवृत्ति हो रही है उसका प्रकाशन ही कभी श्रेष्ठ साहित्य का गुण हो सका है। जागृत चेतना द्वारा अनुभूतियों का संयमन (Culture) और परिष्करण भी अत्यावश्यक है।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने एक बार मुझसे कहा था कि हम हिन्दी में शरच्चन्द्र को देखना चाहते हैं, पर हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वह समाज कहाँ है जो शरच्चन्द्र के उपन्यासों में है! मैं नहीं जानता, बगाल में ठीक वही समाज है या नहीं जो उन उपन्यासों में चित्रित है और न यही कह सकता हूँ कि वहाँ और यहाँ के समाजों में वास्तविक अन्तर कितना है। किन्तु प्रसाद जी की वह बात उस समय मुझे इसलिए अच्छी लगी थी और इस समय इसीलिए स्मरण आई कि उसमें एक सूक्ष्म किन्तु अकाट्य सत्य निहित है जिसकी ओर सबकी दृष्टि सहसा नहीं जाती। वह सत्य यह है कि प्रत्येक युग के साहित्य पर उस युग की सामाजिक संस्कृति का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता ही है। पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य भी अपने युग की संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सके हैं, अनिवार्यतः उससे प्रभावित हुए हैं। युग की उच्च संस्कृति का सम्बन्ध-विच्छेद होने से उनका ह्रास भी हो गया है। जब आध्यात्मिक

साहित्य जो अपने को शाश्वत आध्यात्मिक या नैतिक सत्ता के आधार पर प्रतिष्ठित कहता है युग-सस्कृति की उपेक्षा नही कर सकता, तब वस्तून्मुखी साहित्य उससे पृथक् रह ही कैसे सकता है। भारतेन्दु से लेकर आज तक की साहित्यिक प्रगति में यह हम अच्छी तरह देख सकते है (ऊपर संक्षेप में इसका निर्देश किया भी जा चुका है) कि किस प्रकार साहित्यिक आदर्शो में सामयिकता की छाप रहती है। स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव-सकेतों की पात्री न रहकर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा पा रही है, यह अंचल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है। इसीलिए मैने साहित्य को इतिहास की वस्तु ऊपर कहा भी है। अब कहना इतना ही शेष रहा है कि नवीन युग की नवीन सांस्कृतिक रुचियों और प्रगतियों के अनुरूप साहित्य-रचना करते हुए हमें दो बातें कभी नहीं भूलनी चाहिए। एक यह कि हम अपनी आत्मा—अपने हृदय का सर्वश्रेष्ठ सत्य सबके सामने रख रहे है (चाहे इससे किसी को चोट ही क्यों न लगती हो), और दूसरी यह कि हम साहित्य की—काव्य की रचना कर रहे है जिसका अनिवार्य अंग है सौन्दर्य (चाहे उस सौन्दर्य की व्याख्या कुछ भी हो)। इन दोनों का उचित ध्यान रखने पर साहित्य के सम्यक् और निर्बाध विकास में कोई अड़चन नही आ सकती।

मुझे खेद है कि मैने अंचल के काव्य के सम्बन्ध में ऊपर इतना लिखकर भी उसकी काव्य-कला और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य, उसके गुण और दोष के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। इसका प्रधान कारण यही है कि तथाकथित सत्य के अनुशीलन में हम इतने व्यस्त है कि सौन्दर्य के निरीक्षण का समय ही हमारे पास नही। किन्तु मुझे आशा करनी चाहिए कि सत्य का भार हलका होने पर सुन्दरता की ओर भी कभी हमारी दृष्टि जायगी।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

अपराजिता

जलती निशानी

फिर विकल हैं प्राण धू धू, उड़ चली जलती निशानी

फिर पिपासा की परिधि में माधुरी का पुंज जलता
आज मधु—रजनी न पूछो ! कौन सा उन्माद चलता
आज सब तृष्णा खुली जाती किसी की याद आई
आज जीवन में प्रखरतम लालसा उत्तप्त छाई
आज झंझावात घिर आए करीलों के विजन में
आज उल्कापात होते इस तृषा के श्याम घन में
दग्ध उर में नीर बरसाती चली फिर वह हिमानी
जब धधकती आज प्राणों में यही जलती निशानी

है दृगों में खिंच रही विद्युतभरी वह नग्न रेखा
मेघ पागल हो उठे, कैसी प्रलय की रक्त लेखा
आज जोगी की कुटी में फिर किसी की सुधि सुलगती
एक अनियंत्रित तृषा अंधड़ शिखा-सी आज जगती
बस न पूछो ! रक्त में किसने भरा यह अग्नि-आसव
कौन अङ्गों में लगाता एक आकांक्षा असंभव
एक क्षण की संगिनी फिर आह युग-युग की कहानी
फिर विकल हैं प्राण धू-धू, उड़ चली जलती निशानी

वासना के गान गाते कवि चला सूनी डगर में
तम घिरे, पर एक ज्वाला दीप्त थी प्रिय के नगर में
आज दुर्दिन में सनम का उड़ रहा सावन सलोना
आज कैसी तृप्ति, कितना है अभी उन्मत्त होना
शून्य मंडल लालसा का आज क्यों विप्लव भरा-सा
क्यों तरंगों की तरी पर जल चला तूफ़ान प्यासा
बढ़ गए सब दीप पथ में क्यों नियति की मूक वाणी
फिर विकल हैं प्राण धू-धू, उड़ चली जलती निशानी

आज प्यासे फिर सुलगते मद-भरी मधु वासना में
आज फिर उद्भ्रान्त लोलुप इस ज्वलंत उपासना में
फिर महा व्याकुल अरण्यों के निविड़ तूफ़ान पीते
आज वेदन की पुरी मे डोलते विक्षिप्त जीते
प्रज्वलित हैं मरु तृषा से जल रहे मालंच प्रतिपल
यह जलन की मूर्त धूनी है अमिट—कितनी अचंचल
आज यह उद्गार कैसा, कब सजा ऊसर बनानी
फिर विकल हैं प्राण धू-धू, उड़ चली जलती निशानी

लालसा ! बस कुछ न पूछो ! है प्रबल विस्फोट वाहन
आज किंशुक अग्निमय जलते जलाते फुल्ल यौवन
क्षुब्ध जीवन-स्रोत में कितने बँधे तूफान फिरते
रूप रजनी में उमंगों की प्रबल आह्वान घिरते
आज पारावार जल चलते सुलगते नील अंबर
एक उत्पीड़न, गरल के गर्त में उलझे बवंडर
आज लहराते विकल, पागल बने जो थे गुमानी
फिर धधकती आज प्राणों मे वही जलती निशानी

आह ! वह अवनतमुखी लज्जा-ललित उन्मादवाली
आज जगमग हो उठी वह रत्न-दीपों की दिपाली
जो छलकती, झूमती, निर्माल्य की हाला बहाती
जो उमड़ती सिंधु-सी, मोती लड़ी-सी टूट जाती
आज ओरे कवि ! वही चिर चंचला नंदनवती-सी
घिर चली चिर स्वप्न की सपत्ति, अंतर आरती-सी
और अब क्या ! बुझ सकेगी क्या कभी तृष्णा दिवानी
आज जीवन का विसर्जन और यह जलती निशानी !

इन दिगंतों की डगर पर उग्र गंध-प्रवाह बहता
फिर विकल हूँ, कौन बोलो तो क्षितिज के पार रहता
है सुना आदेश मस्ती के वहाँ प्रलया लुटाते
सब चले जाते वही अपनी प्रखर तृष्णा सुनाते
मैं यहाँ वंचित, सुना उस पार मधु के कुंभ ढलते
सब बुझाते प्यास, प्यासे बन महासागर निकलते
पर यहाँ तो एक हाहाकार उच्छृंखल जवानी
फिर विकल हैं प्राण धू-धू, उड़ चली जलती निशानी

ओ नैया के खेनेवाले.....

फेको बीच भँवर में तरिणी ओ नैया के खेनेवाले !
छाया एक अजब अँधियारा आज—अमंगल के मतवाले !
इन खामोशी की बूंदों में सुन लो आज प्रलय की आहट
कुछ-कुछ ऐसा ही होता है जलती तरुणाई का मरघट
ऐसी ही सुनसान हिलोरें एकाकी जीवन में आतीं
चलता ऐसा ही सन्नाटा—डगमग होती जीवन-बाती
इस बेहोशी के आलम में बोल उमंगों की जय बाबा !
आज उचटते सपने की भी माया है तृष्णामय बाबा !

एक गुमरते धुंधलेपन से बीत रहे ये मेरे भी दिन
पनपा करते ज्यों मरु अपने जलते क्षुब्ध बवण्डर गिनगिन
अपने दिल की फुलवारी में वही जलन की बेल लगाये
ओ नैया के खेनेवाले ! बीच भँवर हम तरिणी लाये
आज बुझाकर अपने तारे जाग रही घनघोर उदासी
बह जाने दो नाव अतल में यह तो लहरों की चिरवासी
एक भरोसा तूफ़ानों का जिनका आँधी-सा दम बाबा !
सिरजन के चीत्कार लिये जो चट्टानों में चलते बाबा !

बाँध सकें पछुआ की धड़कन जिसकी छाती की हुंकारें
और न अधरों में फिर लौटें जिसकी झञ्झावात-पुकारें
जो सागर की देख रुलाई मत्त अमावस-सा घुल घेरे
पर विष के अम्बार लिये जो नीरभरी पुतली से हेरे
आ मेरी चीन्हीं मञ्जिल के मीत ! पुरानी आग लगा ले
फेंको बीच भँवर में तरिणी ओ दुर्दिन में खेनेवाले
इस वीराने बाग़ी दिल को एक यही कुछ राहत बाबा !
तूफ़ानी लहरों का काला रूप बड़ा उन्मादक बाबा !

झूठे ये सुख-दुख के बन्धन जीवन के उच्छृंखल यात्री !
झूठी वह ममता की बन्दिश—वह अवशेष स्नेह की पात्री
धूप-छाँह का रैनबसेरा झूठी उसकी याद सुहानी
झूठे बरबादी के सौदे जिनमें बीती विकल जवानी
उम्र समुन्दर की ऐसे ही नील रवानी में कट जाती
चलती रहती एक कहानी—भूख कहाँ कब बुझने आती
युग-युग से है याद तपिश का कुछ ऐसा ही दामन बाबा !
पाप भयंकर कौन लगेगा ऐसी वहशत से बढ़ बाबा !

बीच भँवर में पाल गिराकर ओ नैया के खेनेवाले !
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुँच जाते मतवाले
लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अन्तर
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तों में झुकता
दूर--निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता
कुछ क्षण की यह बात नहीं यह एक जनम की ज्वाला बाबा !
अविनाशी उन्मत्त अकम्पित जीवन की जयमाला बाबा !

नीला यह आकाश धरा के विष से अपना गात निखारे
नीली लहरों की पगडण्डी बनती मिटती साँझ-सकारे
आज बलायें लेता दुर्दिन मस्त पवन मेरे सन्धानी !
आज भरा है सागर का घर खेनेवाले क्यों हैरानी ?
आज न बिन जाये रह जाता खींच रहा किसका आकर्षण
फेंको आज प्रलय में नैया खोल शस्य श्यामा के बन्धन
दर्द नहीं बस बेचैनी है जो पत्थर में भी लय बाबा !
साथी पाता आज वही दिल--बोल तरंगों की जय बाबा !

फिर भी भूल न पाता उसको.....

मानो क्षण भर मे ही सब कुछ शेष हुआ—थी एक कहानी
फिर भी भूल न पाता उसको—जैसे कल की बात पुरानी
याद बहुत आती है उसकी उम्मीदों से खाली खाली
जब खामोश निशा के तारे भरते एक उमस मतवाली
एक शिथिल अवसन्न उदासी—यह जीवनव्यापी अँधियारा
तीखी तीखी प्यास न पूछो कैसी बेचैनी का मारा
दूर चली उस छोर कहाँ वह पीरभरी मेरी सुकुमारी
टूट सुबह के सपने-सी—कुछ सोती कुछ जगती दुखियारी

और कहाँ अब आ पहुँचा मैं उठ-उठ कर गिरता इस मग पर
जब चुपचाप चली जाती होगी वह ले जीवन का ऊसर
भूल नहीं फिर भी तो पाता जब ऐसा अँधियारा छाया
रह रह हूक कलेजे उठती--किसने सब संसार जलाया
खत्म हुआ क्षण भर में जैसे एक उचटती सुधि का गाना
कौन किसे मन में रख पाया--दुनिया का यह दर्द पुराना
लग जाती बचपन में झपकी--सो जाते दो घुलते बादल
किन्तु शराबी यौवन तब तक ले आता तूफ़ान धलाघल
फिर तो आ ही जाता है वह प्यासा बरबादी का दुर्दिन
एक अधूरे सपने सी छुट जाती प्राणों की चिर सगिन
रह जाता जीवन बन अपनी ही जलती अवशेष निशानी
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कल की बात पुरानी
जीवन की इतनी आकांक्षा, साध ! न किन्तु कही उड़ जाती
चढ़ती भादों की गंगा-सी तृष्णा मन में ही रह जाती
यह असह्य ज्वाला दिल की क्यों कवि के चीत्कारों की वाणी
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कल की बात पुरानी

सांध्य स्मृति

आज माँझी ! मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में

आज तू नौका न ले चल जल जहाँ अवसन्न बहता
डोलता दक्षिण पवन सूनी कथा उद्भ्रान्त कहता
गूँज कंकण रव जहाँ की युवतियों का त्रास लाता
सुन न पाता कण्ठ-स्वर---व्याकुल सुलग बुझने न आता
रूह मँडराती पिपासित तीर के इस पार रह-रह
था बना बन्दी स्वयं---तृष्णा बड़ी मीठी लगी यह
झूमती मोती-लड़ी-सी तारिका आयीं गगन में
फूँक डाली थी चिता उस दिन इसी तट पर विजन मे

दूर तक छायी घटा—आँसूभरे ये मेघ छाये
नाचती किरणें क्षितिज में क्यों प्रिया की सुधि जगाये
मौन, मन्थर, डोलतीं जलसिक्त कटि-आनत लजाती
आज केशर-स्रोत-सी वे ग्राम कन्यायें न आतीं
कृष्ण वेणी डूबती हिलती न अब पागल बनाती
चिर कुमारी चिर लली वह अब न जल के पास आती
दूर ले चल—भर नजर लख भी न पाऊँ भस्म कण मैं
आज मैं नौका न बाँधूँगा यहाँ इस तट विजन में

भूल पाता मैं न माँझी ! वह कुसुम-ऋतु रात उन्मन
जान पड़ती है अरे कल की कसकती बात प्रतिक्षण
शस्य वासित गीतिका सी सान्ध्य सपने में बिखरती
सो गयी चिर नीद में वह बाल सङ्गिनि हूक भरती
और नीले चीर में लिपटी चिता पर जल चली जब
चन्द्र ज्योतित यामिनी में वह अनावृत रूप ले सब
आज जाने हो रहा कैसा विकल मन निशि अटन में
आज मैं नौका न बाँधूँगा यहाँ इस तट विजन में

आज भी करती अवश वह एक व्याकुल रागिनी-सी
बिद्ध करती—बींधती तन को क्षुधा-सी फैल प्यासी
सुख कहाँ—अब तो व्यथा मिलती कभी जब याद आती
रक्त से घिरता हृदय—उठती उदधि-सी नील छाती
आज तो उच्छ्वास के आवेश बस अवशेष कातर
आज पगध्वनि शून्य सन्ध्या में चली आती निरन्तर
बस इसी तट का अदर्शन एक सुख-सा है जलन में
दूर ले चल मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में

आज जीवन की सभी भूलें स्मरण कर प्राण रोते
अन्ध चिर अनुराग में सूने विकल दिन-रात होते
शून्य सङ्गीहीन अन्तर फूलता निष्फल तृषा-सा
आज भी जलती चिता के धूम-सी अन्तर्दुराशा
आज जगता ही चलूँगा मैं क्षितिज के पार तत्पर
सो कदाचित् ही सकूँगा मैं सुवास-अधीर, कातर
आज भी कितने शिथिल झरते बकुल नीरव पुलिन में
आज मैं नौका न बाँधूँगा यहाँ इस तट विजन में

आज क्यों गृहहीन मुझ-सा ही विकल फिरता समीरण
दूर से स्मृतियाँ बुलातीं अर्ध-विस्मृत स्वप्न चेतन
छिप किसी के कृष्ण केशों में न पाता नील अम्बर
उन गुलाबी पगतलों को छू अरुण होते न वासर
भूलने दे आज माँझी मरण अविनाशी प्रबलतम
आज सुनते ही चलें उन्मत्त जल कल्लोल छमछम
इन करों से ही रची थी वह शयन-ज्वाला मरण में
आज माँझी मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में

मन की बात बताऊँ

सूखे होठों में घिर आनेवाली मन की बात बताऊँ
पल भर के छोटे सपने में क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊँ
पन्थ कहाँ अनमिल-जीवन का प्रलय-पिपासा को मुड़ जाता
यह उन्मत्त लपट तृष्णा की—प्यार किए बिन रहा न जाता
किन वनफूलों की चन्द्राहत गन्ध चली आती वनमाला
ओसभरी किस दुखती चोली की चिनगारी की यह ज्वाला
किस मतवाली के मीठे दुःस्वप्न लगे झंझा से गाने
आज सजल पथ पर सतवन्ती कौन चली चीत्कार बिछाने

छूँछी मुसकानों में किसकी उठते आज हविश के बादल
कौन पुजारिन फिर अकुलाती रूपभरी कलशी ले प्रतिपल
विह्वलता किसकी अतृप्ति की कुहर-म्लान छाया भर लाती
किसकी कजली की तन्मयता उमड़-घुमड़ यों घिरने आती
लेकर जलनभरे तारों की सन्ध्या का अवसाद अचेतन
किस निर्झरणी के आँगन में आया सुधि का पर्व अपावन
जीवन के अवरुद्ध पटों का दीन हताश अतिथि भरमाया
किस अतीत से फिर एकान्त क्षणों में अंकित होने आया
उस रसवन्ती मायाविन को प्यार किए बिन रहा न जाता
मानो जन्म-मरण के भी उस पार चलेगा उसका नाता
दूर क्षितिज के वातायन में प्राणों की वंशी की वाणी
रन्ध्र-रन्ध्र से पूछ रही वह चन्द्र-किरण-रेखा पहचानी
तृषावन्त रोती बयार यदि रोने का अवकाश न पाती
तो मेरी सुनसान सहेली-सी कुछ फूल उमस उफनाती
कोयल के गीले गीतों-सी हूक-भरी पगध्वनि सुन पाता
मन की बात बताऊँ फिर तो प्यार किए बिन रहा न जाता
जीवन की दुरन्त तीखी दोपहरी में व्याकुल पर ध्यानी
क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊँ मैं सपनों का चिर सन्धानी
तरुण रुधिर-चन्दन-रेखाओं से नित उसकी गैल सजाता
खत्म वहीं हो जाती ममतामयी कहानी—मैं मिट जाता
चुप बैठूँ भी तो मैं कब तक—गाऊँ भी तो कितना गाऊँ
सूखे होठों में घिर आने वाली मन की बात बताऊँ

———

सावन-भादों

पूरब दिस से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी
अलख अकूल अतल से निकलेगी बरसाती तृष्णा मेरी
फिर उमंग से उमँग उठे ये बाग़ी साजन बड़े सलोने
यह मेघों का रैनबसेरा आज न देगा जी भर रोने
भूख भरी घड़ियाँ यह---नीले खेतों पर सावन का पानी--
आज पर्णिका में घिर आई [illegible]ब की मीठी याद पुरानी
उन रतनारी तरल अँखड़ियों में ले एक नमी तुम रानी!
मस्त कहाँ बैठी होगी झपकी-सी प्यास लिये अनजानी--

रूप-सजल, उन्मन किरणों के आलम में कुछ लिये उदासी
खोई मंज़िल के दीपक-सी आज कहाँ जलती हो प्यासी
क्षुब्ध पवन, जनहीन डगर जब, शिथिल वधू, किस पार बटोही
आज अयत्न कहाँ से आये इस अश्रान्त जल में निर्मोही
भीगे वनफूलों में बाँधूँ किस सुर से यह चंचल क्रन्दन
हास-अश्रु के किस घन को पा, सफल करूँ यह जलन, निवेदन—
आज साँवली गहरी सन्-सन् रात कहाँ की लिये निशानी
दीन भिखारिन-सी कहती है—तुम्हें न जाने दूँगी रानी !
आज बावली वर्षा आई खोल तपे अङ्गों के बन्धन
पूरब दिस से उठी बदरिया आज मरण का लिये निमंत्रण
किसने काग़ज की नैया पर दुर्दिन का अभिशाप लगाया
किसने तिनकों की दुनिया में पागलपन का पर्व मचाया
आज अजीवन के तट पर यों किसने कवि को फूँका लाकर
किसने यों किशोर गायक की विष से भरी जवानी आकर
अतल वितल से जल-प्रसिक्त केशों को ले फिर उठी चितेरी
पूरब दिस से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी

———

आत्म-प्रलय

आज जगी जब जीवन में तृष्णा, गाऊँ तो क्या गाऊँ
आज प्रलय के सर्ग खुले हैं, मीठे गीत कहाँ पाऊँ
सह्य नहीं चेतनता--कैसी घनी उमंगें आई हैं
लाजभरी वह सूनी चितवन किस घर में अकुलाई है
तृषित दिगंतों से जलते किस कुंभ कंठ से उठी पुकार
सूनेपन में आज बुलाया किसने मुझ वंचित का प्यार
कुसुमकुंतला किस लहरीली ने लहराकर सुधि की है
स्वर्णमल्लिका से अधरों में किसने एक कसक ली है

किन सतृष्ण मधुकरियों ने यह आज विदाई दी विष की
आज मरण मीडों मे भी है मुखर बकुल-वन की वंशी
आज पाप की ओर उड़ी यह किस सजला की प्यास दुरंत
जन्म-जन्म के जीवन में क्या कभी लालसा बुझी ज्वलन
विपथगामिनी चिनगारी-सी आज पिपासा ही अवशेष
किसी अपावन विधुर नीरजा की अंजलियों का यह देश
आज किसी दूरागत संध्या ने फिर मेरा स्वप्न पिया
किस स्वयंबरा ने उफना अमरित-सर-सा भर लिया हिया
दूर देशिनी, चिर उदासिनी किस अतृप्ति के स्त्रोत्र चले
आज अगोचर किस मदालसा के अन्तर में प्राण गले
यह असीम निष्फल ज्वाला मैं गाऊँ भी तो क्या गाऊँ
आज मरण का तीर्थ सलोना कहाँ मधुर स्वर भर पाऊँ

अन्तर्गान

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते ?

(१)

कौन आकुल प्राण को करते विकल उन्मन अचेतन
कौन प्यासे-से दृगों में घूम भर जाते अपावन
कौन विस्मृति की घड़ी में शेष करते गान मेरे—
कौन मतवाली हवा में खींचते सावन चितेरे
दूर हो तुम दूर कितने मैं सुलगती आज तुम बिन
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते

(२)

कौन नूतन मेघ-से छलछल उड़े. सीमन्तिनी में
आ शिशिर-से भर गए कब शून्य नग्न दिगन्तिनी में
एक लज्जित स्पर्श भी पाया न जब—क्यों आज आये
सत्य से कितना अधिक उन्माद सपने में जगाए
मोड़ दूँ पतवार—चलने दूँ प्रलय-पथ पर तरी क्या
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते

(३)

प्यास से जगती प्रभाती-सी लिए जब शेष जीवन
जन्म-जन्मों की निरति आसक्ति—क्यों चुकता न क्रन्दन
आज-सी विश्राम-हीना लालसा उमड़ी न तब से
शान्त अन्धड़ में चले ले शून्य आधी रात जब से
और आँखों में नमी ले रह गई एकाकिनी में
कौन हो तुम आज अन्तर में प्रलय-सी सुधि जगाते

(४)

हो उठा किस गंध से व्याकुल अचेतन स्वप्न दृग में
बावली-सी घूम जाती गैल बन्धनबद्ध-पग में
मुक्त श्रावण जल भिगोता था किसी का गात उन्मन
और बेतस बालिका-सी में सिहरती थी सजल तन
आज चिर बिछुड़ी तरी पर दूर का हिल्लोल छाया—
कौन सीमाहीन तृष्णा के सुरों में तुम लजाते

(५)

प्यास क्यों बढ़ती विरह की वक्ष पर जब नील अम्बर
है तरंगों से भरी जलराशि—क्यों अवरुद्ध सागर
चिर कुमारी की तृषा-सी क्यों उठी जल जल पिपासा
आज मीठी वेदना लाई अतल से यह दुराशा
शून्य लक्षावधि हृदय ले जल रहे ऊपर ग्रहों से
कौन हो तुम जो विकल गृहहीन उड़ु-से टूट जाते

(६)

स्वर्ग से आये उतर किस नर्क का लघु पाप लेकर
भूलती जाती नियति मैं—सर्वविजयी ताप लेकर,
दीखती बुझती न अमरित से प्रखर यह प्यास प्लावित,
आज मूर्छित हो चला असमय सृजन का सुख अपरिमित
गृह-पवन लाया उड़ा फिर आज कुन्तल-गन्ध-गीता;
कौन हो तुम आज आधी रात तक छुटने न आते?

(७)

कौन हो तुम मर्म मे जो आज तृष्णा-सी लगाते

भूलना मुझको न प्रियतम !

घोर काली रात थी—घहरा उठा था तम गगन में
डोलते थे हहर पीपल-पर्ण तृष्णाकुल पवन में
जल दिगन्तों में रही थी शून्य सन्-सन्-सी उदासी
अब बिछुड़ते हैं विकल दो तृषित हृदयों के निवासी
कह उठी थीं प्राण ! तत्क्षण तुम अकंपित
भूलना मुझको न प्रियतम !

भूलना मुझको न प्रियतम ! आज वह अनुताप कैसा
याद आई फिर—वियोगी का प्रबल है पाप कैसा
जल रहे दोनों तृषाकुल कौन किसको दान दे तब
आज दोनों का विसर्जन—हैं विफल अरमान ये सब
कब मिलेंगे कौन जाने, किन्तु तब तक—
भूलना मुझको न प्रियतम !

पास बैठी थीं लिये चिर शून्य आँधी-सी पिपासा
उड़ प्रखर परिमल रहा था कुन्तलों से लालसा-सा
मुक्त केशों में शमा-सी जल रही थीं रूप खोले
आज जीवन-ज्वार में कितने निविड़ तूफान बोले
आह ! बासन्ती, सजल सन्ध्या सदृश घुल-घुल
तुम्हारा प्राण ! कहना—
भूलना मुझको न प्रियतम !

रक्त मेघों से उठी धुँधुआ उदधि-सी नील छाती
प्रज्वलित आसक्ति तब से तो कभी बुझने न आती
पत्थरों से जड़ पगों पर रख धधकते हाथ अपने
आह ! मस्तक पर लिए सेंदुरभरे सुनसान सपने
वह सुमुखि ! तन्मय तुम्हारा ध्रुव विकलता-सी बहाना
भूलना मुझको न प्रियतम !

है किसी अज्ञात सागर के पुलिन पर वह अमंगल
आ रहा चीत्कार जिसका वक्ष पर लगता हलाहल
यह असह उद्दाम अभिलाषा न कोई और पाये
शून्य मृगतृष्णा किसी की इस तरह मिटने न आये
उच्छ्वसित, व्याकुल, सजल, आनत दृगों से मूक कहना—
भूलना मुझको न प्रियतम !

दूर हो तुम किन्तु प्यासी यामिनी कितनी निकट तो
दीप्त है आहुति—मुसाफिर जल रहा अवसन्न तट तो
भूलना मुझको न प्रियतम, टूटती लहरें चली रो
वेदना का यह समा—रो साँय-साँय विजन चला लो !
मैं पिपासित ही रहूँगी आमरण सूनी सजल पर—
भूलना मुझको न प्रियतम !

जग रही थी क्षुब्ध आधी रात तुमको नग्न घेरे
भूलना मुझको न प्रियतम हूक उठते अङ्ग मेरे
इस मरण के यज्ञ में जब जब तिमिर उफना सुलगते
इस अपूरित प्यास में जब जब अपरिचित श्रोत जगते
कौन भर जाता अरे ! प्रतिरोम, दुर्धर—
धमनियों में दीप्त क्रन्दन
भूलना मुझको न प्रियतम !

'भूलना मुझको न प्रियतम' है यही जीवन मरण में
आर्त कलरव गूंजता-सा प्रति तृषा के संवरण मे
भूलना तुमको !--अरे जब मिट सकी मेरी न छाया
प्राण ! मैंने तो प्रलय तक के लिए यह दाह पाया
मैं वहन करता चलूं पथ भ्रांत होकर भी--
तुम्हारी वह्नि थाती
भूलना मुझको न प्रियतम !

अन्तर्गीत

वही पुराना दर्द उठा है हूक किसी की सुधि कर ले

यह वर्षा की रैन अँधेरी नीले काजल की ज्वाला
आज भरा सोने से अम्बर उमड़ी श्याम मेघमाला
व्याकुल चिर रसमयी मोहिनी ! तुम भीगे कुन्तलवाली
सोच उठा क्या आज वियोगी—बड़ी तृषा के दिन आली !
वही पुराना स्वप्न नई बूँदों में रिमझिम घिर आया !
सूने सङ्गीहीन पवन से आज प्रलय का पथ लेकर
फूँक निधन की अगवानी में चिर चीत्कारभरा अन्तर

आज उसी विष की आहट को श्यामल पुलकों में भर ले
वही पुराना दर्द उठा है हूक किसी की सुधि कर ले
अरे दूर से मिटनेवाले ! है कितनी तृष्णा प्यारी
इस दारुण अकुलाहट में भी किये सलोनी तैयारी
वह्निपर्व मे फिर विस्मरणी ! कितने अग्निदूत आये
असमय साँझ उतर आई मन की आशा को भरमाये
जाने कहाँ लिये जाती है जीवन की वहशत सूनी !
छिटका फिर जुनून—ज्वाला से निर्मित अतल-वितल कर ले
दक्षिण पवन चला फिर वन में हूक किसी की सुधि कर ले

———

पुकार

फिर महा उन्मत्त कर दो ओ मरण की मूर्ति आकर

(१)

शेष कितनी है तृषा—कितना अभी अवशेष जीवन
घोर तम-आनत निशा—जलता चले कब तक विकल मन
एक स्वर-लहरी उड़ी अज्ञात चंचल स्वर जगाये
आज अन्तर की सजल लपटें चलीं सपने सजाये
एक मीठी भूल—नादानी चपल आकुल दृगों की
इस मधुर चढ़ती जवानी में अरे! यह प्यास जी की

(२)

मैं पथिक उद्दाम पी डालूँ लगन का पुण्य पावस
यह महासागर जलन का—यह प्रलय पुलकित अमावस
पी गया जाने न कितने मैं हलाहल के बवन्डर
प्राण ! सह लूँगा तुम्हारा प्रज्वलित अपरूप तत्पर
आज आगमनी बजी प्रति रोम मे चितवन सजाकर
फिर महा उन्मत्त कर दो ओ गरल की पीर आकर

भीख

कौन शून्यता दूर करे जो अन्तर में घिरती आती!
इतना प्यार भरा घर-घर में किन्तु तृषित मेरी छाती!
कौन कहे क्या बेगाने को—अपना एक कहानी जब?
कौन कहे क्या वीराने को जल-जल उठी जवानी जब?
जब घर का सूना-सा आलम—हाल हिये का क्या कहिये!
बिना पिये तूफ़ान उमड़ता—पीकर प्रिये! कहाँ रहिये!
जिसकी सुन्दरता से दीपित हो उठते रवि-शशि-तारे—
जिसकी मधुता से नत मधु दिन चलते विकल गन्ध धारे,

जिस स्वरूप-रानी को छूकर हूक सुलगता मलय पवन;
जिसकी एक सहज सुधि में तृष्णा से भर जाता जीवन;
अरे खोल दो मेरी आँखें—जी भर उन्हें निहार सकूँ ?
अनगिन मस्तों की रूहें मैं उन अधरों पर वार सकूँ ?
बड़ी अचेतनता अलमस्ती महाप्रलय-सी घेर चले!
जीवन की सुनसान पिपासा महाअनल-सी आज जले।
प्यास! न पूछो बिना पिये ही मतवाले मिटना जाने!
इस अतृप्ति से भरे विश्व में एक यही सुख पहिचाने।
एक स्वप्न-सी आकर चली गई जो मौन, ललित, कातर;
जो सुदूर के सान्ध्य गीत-सी बह जाती जीवन छूकर;
आज अतृप्त महासागर-सा विह्वल उसे पुकार सकूँ!
आज उदित हो अन्तर पूनों—जी भर उसे निहार सकूँ!

मुहूर्त

(१)

आज निरंकुश गमन गैल में महाजलन की है बेला
माना कटि-प्रदेश में गुरुता पर मुहूर्त यह अलबेला
लहरों के आघात प्रवाहित करते ही चलते हमको
और निमंत्रण देता प्रतिपल कौन मरणतल को—तम को
आज खुले कुन्तल लेकर ही चलो प्रलय के गीत कहें
चलो विपथगा के प्यासे हम महाकाल की आँच सहें

(२)

आज माँग में सेंदुर क्या सखि—रुधिर चन्दनों की रेखा
भरी जवानी में यह विष भी बोलो प्राण ! गया देखा
आज छेद छाती के पञ्जर फिर असमय आह्वान उड़े !
यही लग्न है—जावक का क्या पगतल से ज्वाला उमड़े !
आज सोहागिन ! खुली डगर पर 'पी' की मर्म-पुकार करो
वही पुराना दर्द उठा है इंगित नव संसार करो

(३)

छैल उठी हैं रक्त कवियाँ बेनिशान मंज़िलवाले !
रक्तलिप्त ले पीत पयोधर है दिगन्त भी मतवाले
मिटनेवालों की बस्ती में संगिनि ! फिर हम हैं आये
बस छूते ही जिन्हें शैलजा भी दुर्गा सी उठ धाये
आग लगे घहराती गंगा में वह आगमनी फूँको
है गुमनाम प्रवाह पिया का—जल जल प्यासभरी हूको

(४)

फिर अनिष्ट की नील रागिनी मृत्युवर्ण नवदीप्ति जगे
आज सर्वनाशी गलियों में महाप्राण घनघोर लगे
जाग रहे पक्षी वन वन में दक्षिण जलधि पार रानी !
उमड़ उठा जीवन घन-सा ले आज हलाहल का पानी
आज न तुम शृंगार सँभालो अर्धनग्न लहरो मग में
आज स्वामिनी का आमंत्रण—आज चलें झंझा पग में

(५)

आज महासंघर्ष--जगाना है फिर से अपना डेरा
प्राण ! न पूछो कैसी वहशत ! सुलग रहा यौवन मेरा
काश ! न मंज़िल मिल पाई तो तृष्णा का कब अन्त प्रिये !
जब करील भी बोल उठे तो कितनी दूर बसन्त प्रिये !
आज बियाबाँ की बुनियादें भी अन्धड़ पर नाज़ करें
घर घर आज चिता जलती है हम ज्वलन्त दुःस्वप्न भरे

(६)

मस्त छिन्नमस्ता सी तुम भी आज चलो मेरी नारी !
कब तक बालम मुँह मोड़ेंगे--हम उन्माद मरणधारी
आज लुटा दो रूप बावली ! बड़ी तपिश का दिन आया
घोर युद्ध की प्यास धधकती कितनी मरणमत्त काया
दान-सिन्धु के तृषित कूल पर अब अतृप्ति आलेप कहाँ
आज निरंकुश गमन गैल में दूर पिया का देश जहाँ

तूफ़ान

उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(१)

जब एक भयानक अस्थिरता हो चंचल प्राण किये देती
निःसंग अमावस की रजनी हो दीपों की बलि-सी लेती
जब मौन विपथगा की ज्वाला में जलते हों मेरे साथी
जब गायक, नायक, अभिशापी, सबकी हो नींद गई लूटी
तुम चलने का सुख क्या जानो—पल भर की आँच सहे तुम तो
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(२)

खोई झंझा की याद लिये उतरी सन्ध्या सागर तट पर
प्यासे प्राणों की तृष्णा से कब कोई भी सपना बढ़कर
उफ़नाते जीवन की वहशत फिर आज प्रलय-सा भरती है
फिर एकाकी उन्माद लिये मैं जाता सागर को सत्वर
है वक्त कहाँ—सुधि भी कर लूँ मिट्टी में कितने चमन मिले
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(३)

आजीवन अमरित से न बुझे वह प्यास बड़ी दुर्लभ मरु-सी
ममता की मारी बस्ती में अपनी तो रूह रही प्यासी
भँवरों में याद किया किसने—झूठे लगते तट के बंधन
खोलो वातायन खोलो ! मैं भर आया लपटों का वासी
निःसंग निशा जगते बीती—सुख दुःख की छूट चली छाया
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(४)

सर-सब्ज हुए जाते पर्वत मेरी लहरों से टकराकर
फिर लौट न घर को पाते हैं चल पड़ते संगी जो बाहर
झंखाड़ों के हिलते यौवन जल उठते मस्तक में धूंधू
किस भोर चला रजनी रहते अकुला अपनी शृंगी भर-भर
असमय आह्वान किसी का हो—मीठा ही लगता आया है
उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

(५)

कब जीवन की बरबादी का चिर सत्य हुआ भृकुत मन मे
गृह-द्वार छुड़ानेवाला यह कब राग समाया आ तन मे
जो देश न आँखों से देखा क्यों आज उसी को मन रोता
लालायित, एक महागति से निर्मित, किस निष्ठुर का धन मैं
मैं तम की अविदित ललकारों में मिट जाय मरण-जीवन-
रेखा उस पार बुलाया अम्बर ने पथ छोड़ ! मुझे जाना होगा

तरुण

फिर लौट चला चीत्कारभरा यों कौन बवंडर सा आकर

(१)

किसकी आकांक्षा एक सतत थी मर मिटने की तैयारी
बरबादी की बुनियाद लिये था कौन गया वह अविचारी
जिसके अभिशापों के यौवन तूफ़ान उठाये देते थे
जो गीत प्रलय के गाता था—थी दूर खड़ी जिसकी नारी
एकाकी पर मतवाला था—भादों की गङ्गा-सा व्याकुल
था एक क़यामत की आहट-सा जिसकी आगमनी का स्वर

(२)

विद्रोही की ललकारों-सी थी जिसके प्राणों की धड़कन
अरमानभरी ऊँची चितवन भर देती मरघट में जीवन
जो छाती के झंखाड़ फुला सुलगाया करता चिनगारी
मुट्ठी भर श्वासों में बाहर निकला पड़ता जिसका तनमन
मस्ती के आलम चलते थे बेहोशी का सिंगार किये
थे साथ लगे जिसके अन्धड़—थे साथ लगे जिसके सागर

(३)

था घोर अनिष्टों का वाहक अनजान दुरन्तों का स्वामी
पलकों में मीठा स्वप्न लिये पर मौन मरण का अनुगामी
कोई भी जान न तो पाया कब अपना था बेगाना था
नासूर बनी जिसकी तृष्णा—फोड़े थे जिसके गुमनामी
प्रेमी था, पागल, साधक था पर एक नया संसार लिये
कोई तो दूर बुलाता था जो लौट न पाया फिर जाकर

(४)

कुछ नील नसों के जालों में जब हूक उठाती दोपहरी
जब धू-धू करती थी संध्या—कुछ गाती थी रजनी गहरी
उफनाते टूटे तारे जब आह्वान निधन का लाते थे
मेघों के रन्धों मे जल जल झाँका करते उसके प्रहरी
था बिद्ध किये देता पंजर-पंजर हुंकारों का जमघट
धूनी सी मस्तक पर जलती—विष की वंशी से क्षुब्ध अधर

(५)

था तुमने भी देखा बोलो उस द्रोहभरे मनमाने को
उस नग्न दिगन्तों से औघड़ अल्हड़ अस्थिर दीवाने को
जो सत्यानाशी भट्टी में था ईंधन सा खेला करता
भड़का दे दीप शिखा को जो उस चिर ज्वलन्त परवाने को
फिर उसकी बात करे कोई दुर्योगभरी जिसकी गाथा
जो लौट नहीं पाया घर को वह चिर-अपराधी चिर-सुन्दर

भर लो आज महासागर.....

भर लो आज महासागर अधरों मे ओ सपनेवाली !
उफनाती है प्यास न जाने कब से मेरी मतवाली

यह झपकी-सा मिलना भी फिर आज तिमिर का पर्व बने
क्षण भर का यह तीर्थ अपावन---कब से प्राण रुके अपने
में ! मेरी हस्ती क्या ! मै हूँ दीवाना प्रेमी चंचल
एक तृषा ही पीता आया चिर वंचित, लोलुप, प्रतिपल
एक सजल मर्मर न सुना वीराना में वह वौराना
इस अविदित ज्वाला को मेरी किन्तु तुम्हीं ने पहचाना

भर लो आज चपल चितवन में फिर तन्मयता का सावन
एक उमंग भरी पग-ध्वनि में आज प्रलय, संगम, प्लावन
फिर अधीर अवसादभरे अङ्कों में भूली बात भरो
आज कुमारी-सी दो पल को विकल बनो, अवदात करो
आज गिरें जलभरी बिजलियाँ मरु के चिर सूनेपन में
आज अवश विस्मृति से डुलती आ पहुँचो बालापन में

बड़े नाज़ से जिसे सँजोया वह दीपक जलता, रोता
तुम न हुई अपनी जीवन में जग—में क्या न भला होता!
बरस पड़ी सब भूख सुसंचित मेरे चिर कुमार तन में
आज अपर्णे! जोगी आया बड़ी पिपासा ले मन में
स्वप्न सखी! ओ शैल मल्लिके! आज सजल श्यामल कर दो
गीली, निविड़, इन्द्रधनुषी अंजलियों में मूर्छित भर लो

अन्धड़

गुमनाम वतन का राही मैं--मेरा तो दुर्दिन ही संबल
है आज महायौवन मुझ में, साँसों में चिर तृष्णा का बल

(१)

वन-वन में थे झंखाड़ खड़े
पथ रोके जानेवालों का
चढ़ती छाती के जाल जला
सन्देश उठा मतवालों का
जब आज न मधु-ऋतु में मदिरा थे—काँप रहे खाली पीपल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(२)

फिर आज अकारण ही मुझमें
उन्मत्त बगूलों की मस्ती
जब गीत विहंगम भूल चले,
चीत्कार भरी तम की बस्ती
जब व्याप्त मुहल्लों में पत्तों के थी बेचैनी की हलचल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(३)

विष मे भी सपनों का रस ले जलते जीवन की धारा मे
है अन्ध अमंगल ग्रह मेरा इस दुखते दिल की कारा में
कुछ चलने में ही भूल सकूँ
शायद प्राणों का दाह प्रबल
गुमनाम वतन का राही मै
मेरा तो दुर्दिन ही सम्बल

(४)

है आज तरंगित पथ खुद ही
जिस पार जहाँ तक जाते दृग
क्या देख बटोही की तृष्णा
उग आते अम्बर के भी पग
एकाकी नीले शैल-शिखर होते ही जाते है चंचल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(५)

ये बाँध न मुझको पाते हैं
मेरी ही सत्ता के बादल
यह मीठी ममता की मंज़िल,
यह हिलते अरमानों के दल
पर सार्थक ऐसे ही दिन तो जीवन का यह उद्दाम अनल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही सबल

(६)

व्याकुल सुलगाने को जग के हिम-प्रस्तर प्राणों मे मरघट
ज्यों नग्न विपथगा जाती हो ले अग्निकुमारों के जमघट
कुछ उनसे मिलता-जुलता सा
मेरे आवर्तों का मंडल
गुमनाम वतन का राही मैं
मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(७)

गति की दोपहरी मे साजन ! दूँ बात बता अपने मन की
आ गान जगा जाती ही है वह बीती प्यास तपे तन की
चिर काल न जीवन में जिससे
अमरित का भी पाथेम सबल
गुमनाम वतन का राही मैं
मेरा तो दुर्दिन ही संबल

(८)

जीवन में जो इस पार मिला
उस पार मरण में ले जाकर
अन्तिम रवि-रेखा से अंकित
आरक्त जवानी का सागर
भर दूँगा लहरों से खेवा--गुंजित जिनमें अज्ञेय अतल
गुमनाम वतन का राही मैं मेरा तो दुर्दिन ही संबल

पागल अन्तस्तल मेरा.....

(१)

फिर तृष्णा की उठी रवानी, पागल अन्तस्तल मेरा
फिर चिर-जीवन प्यास सुलगती, फिर तूफ़ानों ने घेरा
फिर दक्षिण सागर पीने को भस्मासुर जीवन जाता
फिर दुरन्त झंझावातों में मैं उमङ्ग भर-भर लाता
एकाकी जीवन यह मेरा रोता विष की ज्वाला में
आज न पूछो ! कैसा दुर्दिन—विकल पड़ा मतवाला मैं

(२)

घिर आये अवसाद क्षितिज में, रोते रक्तभरे बादल
बुझती प्यास दिखाकर शम्पा, उफनाता अम्बर प्रतिपल
आज अमावस पी जाने को चञ्चल प्राणों की बाती
सपने-सपने में साजन की जागी ज्वाला-सी थाती
पर हम जलते अङ्गारों को ज्वालाओं की पीर कहाँ!
जो आवर्तों में इतराते—मञ्जिल उनसे दूर कहाँ!!

(३)

जो चाहा, वह भूल रही; जो पाया, वही ग़लत पाया
जो न समझ पाया, वह सोचा; जो न बुझा पाया, गाया
जो न मिली, उसकी आहट में प्राणों का संगीत सुना
जीवन के इस पार न जो मिल पाये, ऐसा मीत चुना
दो बूँदों में प्यास भुलाई—चिर वंचित मधु-घट मेरा
फिर उन्माद जगा अन्धड़-सा, पागल अतल-वितल मेरा

(४)

घूम रही तृष्णा मरीचिका-सी क्यों निकल-निकल बाहर
कैसे मरण मीड़ में बाँधूँ यह अभिलाषा का सागर
बाहर-भीतर किसे ढूँढ़ता मैं समीर-सा गन्ध पिये
किस अविजानित उत्सुकता में एक पिपासा अन्ध लिये
क्यों उतावली वशी-सा स्पर्शाकुल तन-मन भर आता
सजल पवन नीले निकुंज की भूली बातें कह जाता

---

(१)

कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

मैं उमगों से भरी सुनसान कितना किन्तु जीवन
मैं तरंगों से घिरी पर है गमन मेरा अपावन
प्राण मेरे देवता की अब न आगमनी मनाते
अब न वे सन्देश तृष्णा के पिया की पीर लाते
आज मंगल घट किसी का फिर हलाहल की पिपासा
रो उठे ये अंक मेरे आह ! नारी की दुराशा
स्पर्श-रसिका मैं—किसी के वक्ष की जलती निशानी
कुछ न पाती नग्न ऊसर सी घनों की मैं भिखारिन

(२)

एक मीठी भर नज़र भी तो उन्हें मैं लख न पाती
किन्तु सुधि उनकी न दो निशि को कभी मैं छोड़ पाती
जो अतल में आ गुलाबी-सा जगाते स्वप्न आसव
एक तृष्णा सी उठाते जो प्रलय पथ तक असंभव
देखकर प्यासी निगाहों से जुड़ाती मर्म जिनको
मृत्यु के इस पार भी चिर वन्दिनी रोती निधन को
वेदना के स्त्रोत्र जीवन की पिपासा मे जलाती
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(३)

एक ही संसार मेरा—एक निष्फलता दमन की
कौन हो तुम तरुण अगों में सुरा के स्रोत, साक़ी !
साचती जाने न क्या क्या थी—कहाँ की बात चचल
विस्फुटित होता जवानी मे हृदय जब—थे खिले दल
किन्तु दावानल लगी, सुकुमार सुन्दरवन जला जब
रह गई अवशेष वन्या नग्न तृष्णा सी विकल अब
चूर्णिमा धूनी बनी—रुकती न जल-कनिका दृगों मे
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मदिर की पुजारिन

(४)

आज असमय ही उतर आई निशा सुनसान नीरव
क्षुब्ध वन्दी स्वप्न मेरे काटते बन्धन असंभव
याद जब आती उमड़ता है उमस से फूल अन्तर
एक क्रदन में बँधी मैं चिर तृषित पर प्राण कातर

स्वप्न में भी चूम रँगता नैन मेरे वह चितेरा
आज आधी रात तक जलता चिता-सा दीप मेरा
कूल अविदित इस विरह का—स्वप्न-संगी भी सदय कब ?
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

(५)

विश्व सोने से भरा—निःसंग पर आती अमावस
एक जुगनू भी न जलता—है बड़ा घनघोर पावस
आज का आशीष ऊषा ने हलाहल से निखारा
मृत्यु से भी प्रिय विनाशी जल्पना यह सर्वहारा
है कहाँ की ये पुकारें—किस गरल की यह पिपासा
यामिनी में जो मिला दिन में कहाँ वह स्वप्न आशा
दूर से सुनती विकल उन्मत्त जीवन-ध्वनि किसी की
कुछ न पाती मैं पिपासित शून्य मंदिर की पुजारिन

अपराजिता

आज मधुपाकुल चपल बनबाल

आज पुलकावृत समीरण कर गया अंग अँग उन्मन
आज शेफाली सुवासित पीतिमा से भर गया वन
आज कलियों पर चमकता द्राक्षा का नूर धानी
आज केसर की कसक से गति-शिथिल, झंकृत हिमानी

आज खग-कूजित बकुल की डाल

ये प्रखर कुंकुम कलश छलछल बहाते गन्ध गुंजन
आज नूतन कोंपलों से नील अमराई अचेतन
और बेहोशी न पूछो ! झूमते जड़ भी मदालस
आज दक्षिण का प्रवासी अन्ध परिमल गा उठा रस

रेणु से आरक्त करतल लाल

गीत गुंजित आज पुरवा किस व्यथा से भर गई दृग
नीरजा की नील कुन्तल रश्मियों से दीप्त मधुपथ
आज की कैसी तरंगें—आज कैसा स्वप्न अविदित
आज पहली बार सुख से हो उठा अन्तर पिपासित

आज मधुपाकुल चपल बनबाल

गन्धवती

अमलिन वन की रानी !

नव मुकुल-मुकुल में पुञ्ज-पुञ्ज
(तुमने छिपने की ठानी)
मैं तुम्हें ढूँढ़ता रानी !

किरणों के वसन—लता गहने
केसर का सरस वर्ण पहने
पल्लव अधरों पर किस प्रिय ने
अंकित की मधुकी वाणी

सीरी-सीरी विलसित समीर
विह्वल विलोकती भृंग-भीर
मृदु रभस-विधुर यौवन अधीर
तुम छबि-सी छिपीं हिमानी !

अयि ! लोनी गन्ध विलोल बकुल
अलि-कोकिल-गुञ्जन पुलकाकुल
खोलो मद-घूँघट, भावाकुल—
मैं सुमन, मधुव्रती, दानी

———

मधुगीत

आज तो मधुमास रे मन !

आज फूलों से सुवासित हो उठी तृष्णा विजन की
आज पीले मधुकणों से भर गई छाती पवन की
आज द्राक्षा पर्णिका से उड़ चली मस्ती गगन में
आज पूनों बह चली रस-फुल्ल महुओं के सदन में
आज तो मधुमास रे मन !

आज पुरवाई घने वन में चली परिमलभरी-सी
स्वर्ण कलशों में सजल केसर लिये चम्पा परी-सी
और वन-तुलसी न पूछो ! गन्ध से निर्बन्ध लथपथ
है तृषित उर आज कैसा गीत आकुल, सुधि शिथिल, श्लथ
आज तो मधुमास रे मन !

कनक पुलकों में तरंगित चित्र-लेखा-सी धरा छवि
दूर तक सहकार श्यामल रेणुका से घिर चला कवि
लो ! प्रखर, सन-सन सुरभि से नागकेसर रूप-विह्वल
बज उठी किंकिणि मधुप रव-सी, हुई बन-बाल चंचल

आज तो मधुमास रे मन !

नील सागर ले उड़ी घन-कुन्तलों में कौन अपने
स्निग्ध नीलाकाश प्राणों में जगाता नील सपने
आज किसके रूप से जल-सिक्त, धूसित, कामिनी-वन
आज संगीहीन मेरे प्राण पुलकित हैं अचेतन

आज मैं मधुमत्त उन्मन

अनमने फागुन दिवस ये हो रहे हैं प्राण कैसे
आज संध्या क प्रथम ही भर चला उर लालसा से
आज आँधी-सा प्रखर आलेष पिक की काकली में
एक अंगूरी पिपासा मुक्त अंगों की गली में

आज तो मधुमास रे मन !

पावस-समीर बह चली अली !

यह शिथिल, गंध-गुंजित कोकिल-सी
किस मधुपति से गयी छली
किस दरस-परस से विकल-तरल
मधु-निर्झर सी मद-मन्द चली

पावस-समीर बह चली अली !

फूलों सा गमक उठा यौवन
गाती है बालायें कजली
तृण-कुञ्ज, कुसुम, द्रुम-पातों में
कैसी नव प्राण हिलोल अली !

पावस-समीर बह चली अली

लो ! झूम उठी डाली-डाली पर
कानन की किन्नरी कली
लद गयी प्रमुद पुलकों से विह्वल
मजरियाँ मधु-गन्ध पली

पावस-समीर वह चली अली !

घिर घिर आते रस-चपल मेघ
खुल-खुल पड़ती चपला पगली
चचल हिंदोल सी डोल-डोल
उठती वल्लरियों की अवली

पावस-समीर बह चली अली !

अधखिले मुग्ध अंगों में चंचल
रति-परिरम्भ हिलोर ढली
प्रिय की मद-भरी उमंगों से
मैं खेलूँ व्याकुल मदन-लली !
पावस-समीर बह चली अली !

पावस-गान

यह सावन की मद-भरी रात

श्यामल पुलकों मे लुक-छिपकर उल्लास-भरी वह रही वात
मधु पी-पीकर हो गये मत्त वन-वल्लरियों के शिथिल गात

सावन की विह्वल चपल रात

परिमल की घिरी घटा प्यारी दिशि-दिशि से उमड़ा सोम-पात
चञ्चल है रोम-रोम जग के, अँग-अँग रति-रस से विकल, स्नात

सावन की प्यासी तृषित रात

नस-नस में छलक-छलक उठती कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरग से कसक वक्ष कर रहा प्रबल उत्तप्त घात—

यह सावन की अनमोल रात

इस प्रेरित लोलित रति-गति में जब झूम झमकता विसुध गात
गोरी बाहों में कस प्रिय को कर दूँ चुम्बन से सुरास्नात

यह सावन की मद-भरी रात

पावस-गान

सावन का पावन प्रणय-मास

झिम-रिमझिम बरस रहे मेघा वानीरों के वन में स
मधु की विनिर्झरी-सी मादक बहती प्रगल्भ अल्हड़ व

सावन का पावन प्रणय-मास

चपला-सा चमक-चमक उठता दिग्वधुओं का अरविन्द
उत्सुक हो प्यार पगी उर्वी जा बैठी गिरि के पास

मनभावन पावन प्रणय-मास

वन-वन में गिरि-बालाओं का नवयौवन का कल-कल हु
जिनमें विम्बित होता रसार्द्र पावस परियों का केश

यौवन का पावन प्रणय-मास

ये वल्लरियाँ उच्छ्वसित, हरित, क्यों फूल-फूल भरतीं उ
क्या जाग उठी इन वाष्पाकुल वन-कन्याओं की मूक

पुलकों का पावन प्रणय-मास

सुकुमार सजीले झूलों के गीतों में इन्दीवरवि
मैके की सुधि में नवविधुक्त सखियों का नूपुर रणित

सावन का पावन प्रणय-मास

इन श्यामल, उज्ज्वल मेघों-सा ही मेरे प्राणों का ऽ
सूनी सन्ध्या, वंचित रजनी की अश्रु विनिर्मित श्वास-

सावन का पावन प्रणय-मास

गीत

देख री ! मधु के दिन आये
कुसुम-युवतियों के अधरों पर भ्रमर-गान छाये
बाल लतायें रस-पनघट पर
ले यौवन-घट, पुलकित अंतर
बिहँस रही, नयनों मे अलसित मदिर राग भाये
वन देवी की रोमावलि सी
पुलक उठी दूर्वादल, छबि श्री
तुहिन कणों के मिस कितने श्रम सीकर लहराये
मुकुलबाल ने बड़ी साध से
सौरभ चर्चित प्रणय लाज से
सुषमांचल में कनक रेणु से मोती गुँथवाये
देख री ! मधु के दिन आये

सान्ध्य-श्री

केसर के सौरभ-दीप जला
खड़ी कुसुम-यूथों मे री! वन उपवन की सौन्दर्य-कला

तम-गुण्ठन से छवि-मुख खोले
परी-लोक से हौले-हौले
मृदु समीर गति—अम्बर डोले

यह आयी री ! नव स्वप्नों की जगमग रूप ज्योति विमला

अवनी के दूर्वा केशो मे
वन-श्री के किशलय वेषों मे
मधु के मर्मर उन्मेषों मे

यह सगुम्फित सुषमा भूषण-सी प्रिय चकित मुग्ध नवला

किरण-तन्तु में जग-शिशु का उर
नयन मुकुल गूँथती, मौन-सुर
मूंद जागरण दिवा कनक उर

निभृत सान्ध्य तारा-सी नभ-जीवन में दीप रही सरला
केसर के सौरभ-दीप जला

मुहूर्त

फिर मिलीं तुम आज संगिनि!

फिर मिली हो आज प्राणों की सलोनी स्वप्न-छलना
फिर मिली हो आज जीवन की सुसंचित रूप-ललना
आज का मिलना, न पूछो! कौन सा उन्माद लाया
आज के सुख की न तुलना, कब न तृष्णा ने मिटाया
आज वेणी-सी खुलीं तुम मुक्त-केशिनि, ओ विहंगिनि!

(२)

दूर की चिर सहचरी तुम दूर की उन्मादिनी-सी
दूर से अपनत्व लेकर जल-भरी सौदामिनी-सी
आज अन्तर-अंकनी ! जीवन कहाँ से लौट आया
किस निविड़ सुनसान में संगीत का दीपक जलाया
क्षीण मिटते-से अनल में जल तृषित लें बोल रंगिनि !

(३)

आज यमुना के पुलिन पर हूकता था पिक पिपासित
फुल्ल पूनो मे विजन पीड़ित पिघलते मर्म-संचित
पीतिमा-चर्चित, निविड़, घनघोर खेतों में उदासी
अब न उड़ते थे सुवासित शस्य श्यामल मधु प्रवासी
शून्य अमराई पड़ी थी—उड़ गई थीं ओ विहंगिनि !

(४)

आज जीवन की तरंगों ने मधुर वरदान पाया
आज सागर की उमंगों ने प्रलय का पथ सजाया
एक झोंके मे उठेंगे आज रो गिरिकूट श्यामल
अब उड़ेलेंगे बिछुड़ती शैलजा पर मर्म बादल
आज पुष्पों से भरेंगे फिर लता के गात रंगिनि !

(५)

फिर वही मुस्कान उन्मन मूक आनन पर लजाती
एक बन्धन में बँधी जो सुधि-भरी बुझने न आती
मूक उद्वेलन वही, आभास होंठों पर उजागर
एक धीमी-सी जलन में जो लिये शशि, क्षीरसागर
आज सहसा आ गईं तुम ओ विरह की चिर प्रसंगिनि !

(६)

आज जी भर देख भी पाता न मैं विरही अपूरित
आज अपने में न रुक पाता विकल मैं सुख निपीड़ित
फिर महा व्याकुल हृदय की प्रीति घर घर में बिखेरूँ
इन मरण-जीवन-तरगों में जलधि-सी प्यास घेरूँ
किन्तु अक्षय है हृदय का घनघटा सा दाह रंगिनि !

(७)

आज आ आ वह मधुर मुख कार्य में व्यवधान होता
आज जितनी ही व्यथा उतना सरस क्यों गान होता
आज कज्जलिनी निशा लाई तिमिर के तीर्थ कितने
जग उठी श्यामा, वकुल झरते, शिथिल अवशेष सपने
क्षुद्र संध्या-दीप अंकित कर चला अवसाद संगिनि ?

(८)

मुस्करा कर रह सकोगी दो घड़ी क्या शान्त नारी !
आज उड़ती चितवनों में क्या छिपेगी पीर सारी
पथ-विकल, अंकित, अलक्तक क्या सकेंगे मूँद अन्तर
आज किस भूली व्यथा में रूप यह निःशब्द झरझर
आज किन अवरुद्ध गीतों से उठा तन फूल रंगिनि !
फिर मिली तुम आज संगिनि !

पावस गान

पावस का धूमिल सांध्य गगन
मैं हेर रही उन्मन-उन्मन

हैं अभी बरस कर निकल गए रस-भरे मेघ काले काले
भर रग-रग में उत्सुक मादकता गए कहाँ वे मतवाले

वे हरियाले नव वय वाले
ले गीले मदमाते चुम्बन
ले प्यारे प्यारे रस जल-कन

सुर-धनु-रंजित सौंदर्य तरी पर किरणों की पतवार लिए
क्रीड़ा करतीं लोनी परियाँ यौवन का पुलक प्रसार लिए

नव दुर्वह मदन-सँभार लिए
पावस का मधुमय सांध्य गगन
उमड़ा मेरा बाला . यौवन

बह रही मधुर मद मंद वात, स्वप्नों का पारावार लिए
है गमक रही कैसी उमग मस्ती का तरुण उभार लिए

कैसा उन्मत्त प्रहार लिए
पावस का उन्मद सांध्य गगन
मैं कसक उठी, कैसा पीड़न !

किस परदेशी की सजल लोल सुधि में यह संध्या श्याम परी
किस घन उसाँस से फूल-फूल व्याकुल हो अपने में बिखरी

विधुरा उच्छवास-तरंग-भरी
पावस के ये लहरीले क्षण
हम दोनों का सूना जीवन

किस माया के अभिसिंचन से बिखरा प्रवेगमय नवयौवन
ग्सवती बालिका अलबेली मैं सहती हाय ! मदन-वेदन

आओ मेरे प्रियतम मोहन
फूलों के अंगों में कस धन !
देखूं पावस का सांध्य गगन

मनुहार

आओ आओ तनिक तुम्हारा मैं शृंगार सजाऊँ !
जीवन-ज्वाला में जल जल जब व्यथित तृषित थक जाता
चिर अनिष्ट का संगी अपनी कटुता में उफनाता
भीगा दामन ले सन्ध्या आती कर खग-कुल-चंचल
मौन शिथिल सोचा करता मैं कैसे तुमको पाऊँ
ज्योति जगाती हो अन्तर में सन्ध्या-तारा-चितवन
धुँधली सिहरन में उलझा हो शरद मेघ सा आनन
मुग्ध मधुकरी के गुंजन में पुलकित श्यामा का तन
आज न भरने आता है जी कितनी सुषमा गाऊँ
फूट पड़े फिर रूप तुम्हारा स्वप्न-सहचरी छलछल
सजल शर्वरी के छींटों से गन्ध-स्निग्ध नीलोज्ज्वल
कुंज शिखर पर शशि-किरणों के जलते मणिक मडल
कैसे हिय की दीप्त शिखाओं में विद्युत भर लाऊँ
प्यास न सागर से बुझती—मैं दो अंजलियों का धन
तुम सुदूर—पर पास तुम्हारा क्षुब्ध जलधि सा क्रन्दन
अनबीधे मोमी मोती कुछ शेष पिपासा के कण
फिर भी साध रही जीवन में—रूठो तुम्हें मनाऊँ

झलक

मैं नवयुग की हलचल लाया
मस्ती लाया, यौवन लाया

मेरा ज्वाला-सा वक्षस्थल
उन्माद भरा उर उच्छृंखल
किसकी मृदु पग-ध्वनि का पागल
मैं दुर्दिन का गायक आया

मैं जोगी साधक तृष्णामय
मेरी आकांक्षा एक प्रलय
घनघोर दुराशा में तन्मय
मैं ध्रुव उडु सा जलने आया

विस्फोट भरी मेरी वाणी
मेरी अन्तर्ध्वनि कल्याणी
यह प्रखर पिपासा का पानी
मैं गीतों में भरने आया

मैं एक महागति का उद्गम
उद्भ्रान्त तृषाओं का संगम
सप्तर्षि पतन सा चिर दुर्दम
मैं रोतों में रोने आया

ये प्राण महासागर वाले
सब मुझको पाकर मतवाले
चैतन्य हुए मरघट वाले
मैं जीवन, नव-जीवन लाया

मैं ज्वालामुखी सदृश प्रतिक्षण
चिर मंगल-मय मेरा यौवन
चिर जागृत मेरा आत्म-दहन
मैं सब में मिल जलने आया

प्रभाती

खोल चितवन के ज्योतिर्द्वार, भरो जग में मधु-सौरभ प्यार

विश्व के शतदल पर अम्लान, किरण केसर-रज भर दो प्राण !
पुलक-विह्वल नव स्वर्ण विहान, गा उठे छबि के परिमल गान
मुझे दे दो स्वप्नों का भार, चन्द्र का रजत-स्पर्श-मद-भार
तुम्हारे निर्झर नूपुर प्राण ! उषा का कुंकुम जावक राग
खिल उठी शयन-शिथिल-मुस्कान, दिवा का स्वर्ण-मरन्द-सोहाग
खोल चल नयन मुकुल सुकुमार, छेड़ दो चितवन के मधु तार
बात की लहर-लहर में प्राण ! खो गये कितने प्रियतम गान
रूप की सालस छबि में प्राण ! प्रणय-चुम्बन वे नखत समान
तुम्हारा नव यौवन-सम्भार, लाज में लिपटा प्रिय साकार
प्राण के मधु में घुल-घुल आज, अरे उर खग की मर्म पुकार
छा रही पुलक कम्प-सी प्राण ! अलस दृग-दलमें बारम्बार
खोल चितवन के ज्योतिर्द्वार, भरो जग में मधु-सौरभ प्यार

मेरी राधा

आज चलो लूटो तो मधुपो में मधुपुंज लुटाता

आज चलो फैलो मधुकरियो में सौरभ छितराता
आज चलो वनरानी अगणित नग्न माधुरी भर लो
सरस बसन्तों का विलोल हिल्लोल-भरा यौवन लो
आज चला बिजली नौका पर सागर में अनजाने
आज चला कवि अपनी राधा के मधुचक्र सजाने
कौन वही जो पटरानी-सी प्रतिक्षण स्वर्ण लुटाती
एकाकी मन-मन्दिर में प्रतिमा-सी पूजी जाती

जाने कितनी वन-कन्याओं का यौवन उसपर है
कितनी चपल राज-कन्याओं का लावण्य मुखर है
कितनी सरिताओं का कल-कल, परियों की पुलकाली
मेघों-सी स्वच्छन्द चपल गति, अलका-सी मतवाली
और सुनो तो यही मुझे प्रति पल में पागल करती
जीवन की सब तृष्णा ज्वाला ले सहसा उड़ चलती
उसी जलधि-कन्या का आसव नयनों में भर आता
उस गिरिजा का नव बसन्त इस मरु में खोया जाता
उस सौन्दर्य शिखा की ज्वाला प्राण-दहन-सा करती
सूर्य चन्द्र दो गूँथ पगों में, रूप-शची छवि भरती
उसका पाकर स्पर्श सरस होते करील-वन, किंशुक
घोल रही जैसे वंशी-रव मौन गगन में लुक-लुक
जिसका दर्शन प्यार बना जो अमृत-सा अमरत्व लिये
जो सौभाग्य लुटाती चलती दक्षिण पवन विमुक्त किये
जो इस सजल शून्य में चितवन की दीपक मंजरी बिखेर
एक नया संसार लिये जो रही शरदपूनो-सी हेर
आज उसी वरदान मयी अतुला की कवि सुषमा गाता
उसी महाप्रतिमा का चिर निर्माल्य लुटाता मद माता
आज चलो खोलो तो विहगो निज-निज नीड़ों की झोली
केशर गन्ध मलय की मणियाँ आकुल कवि ने है खोली

जागरण

जाग उठी जीवन मे कैसी मधु की पुलक पुनीत हिलोर
कितनासुन्दर रे यह मधुवन—कितना कलरव, हास्यविभोर
जाग उठी मेरे लघु मन में चिर यौवन के वैभव-सी
तम-अभिशप्त प्राण-रजनी में किरणमयी हेमांगिनि श्री
इस जड़ता के स्नायुजाल में धमक उठा कैसा कंपन
महामृत्यु-सी सुप्त धमनियों में लहरा कैसा प्लावन
अवसित महाशून्य में मेरा आत्ममरण, दुःसह पीड़न
शापज्वलित पापी प्राणों में जाग उठे मेरे पावन
छवि की रीती, शुष्क पँखुरियों में मधु का उद्गम कैसा
व्यथा-मूक जर्जर प्राणों में यह उन्मन गुंजन कैसा
वह प्रचंड उन्माद, वेदना आज हुई कितनी शीतल
इस अशांत विमथित उर में क्या जाग उठे मेरे उज्ज्वल
कैसी अलख शाति बहती है नीरभरी पल-पल मे
कैसा पवन पूत मद फैला है सारे भूतल में
एक बूँद में उमड़ पड़ा सागर का वीचि-विलास सघन
गीत-गंध-रस-विरहित उर में जाग उठे मेरे मोहन

निशान्त

रोती रात चली सपने-सी; शेष न अब तक हुई कहानी
और न चुक क्रन्दन ही पाया—द्रोहभरे जीवन की वाणी

फिर अंगार प्रलय के साजे चला मिलन का पर्व अपावन
देख सकोगी जुगनूवाली ! मेरी ज्वाला का भूकम्पन

इन विशीर्ण, रूखी अलकों में गूँथे इतना बड़ा अमंगल
आज सलिल-मन्थन के रव-सा फाड़ बिछा दोगी क्या हिय-तल

किस अतीत के महाप्रात से उठ आया यह क्षुब्ध बवंडर
रोती रात चली सपने-सी; खत्म हुआ रोने का अवसर

बीत चली जय-ध्वनि नक्षत्रों की, ज्यों महाकाश पंजर में
रुकी धमनियाँ जातीं मेरी चीत्कारों से भरी डगर में

यह भी कैसा व्यंग ! मिलें हम लेकर पानी भरी निशानी
और विलग हो जायें अपनी लिये अधूरी कचट-कहानी

लज्जतभरे दर्दकी बाते, काश ! अगर मैं भी कह पाता
सच कह दूँ---मेरे अन्तर में तो फिर ऐसा नशा न छाता

इस बहते पानी-सी निशिमें बाँध हिचकियों के तुम बन्धन
आग लगा दोगी क्या चोली में ज्वलंत ! ओ हूक भरे तन !

क्या संभव था---कह पातीं तुम एक रात मे सारा जीवन
कैसे लेता छीन तुम्हारा नैश-गगन सब अन्तर्वेदन

यदि भिखारिनी का संचित धन अन्तिम क्षण में लुटने आता
तो फिर अकल्याण की रानी ! मैं निर्मम भूखा ही जाता

सूजी लाल अँखड़ियों में यह जीवनव्यापी तृष्णा---ज्वाला
क्या उड़ेल पाती दो कुचले सपनों की चिर विकृति कराला

इस अपूर्ण मानव-जीवन की पूर्ण न होने की कुर्बानी
रोती रात चली सपने-सी; शेष न अब तक हुई कहानी

अज्ञाता

कौन मरण सोहाग की तुम रसवती नीहारिका

स्वप्न सुख-दुख के लिए अपुनीत
आँधियों के क्षुब्ध मरु सङ्गीत
कौन री ! तुम कौन ! रह-रह रोकती हो प्राण
जैसे युग-युगों की यह मधुर पहचान
कर रहा अर्पित निवेदित सुन्दरी ! चिर शोभन
जीवन्त मैं, चिरदग्ध,
यह पावक-पुलक-परिधान
तुम प्रलय के पुण्य-जल की चिरनिशा संचालिका

(२)

किन अदृष्टों में खिली तुम रूपसी शेफालिका
विकल आधी रात की मेहमान
इन सितारों की सदा-सी मुखर पर अनजान !
नील अम्बर ले गया कितने दृगों की प्यास
सो गयी अपने दिलों से लिपट सुधि की साँस !
सृष्टि सारी मौन
आज चितवन के घनों में बाँधती तुम कौन !
बोलो कौन !
अन्ध सपना स्वर्ग का मैं देखता—होती सुवासित रात
और पुरवाईसदृश तुम आ जगातीं नाद अन्तर का—
कसकते मर्म के आघात
दूर झञ्झावात की, ज्यों विकल विद्युत् बालिका

(३)

प्रज्वलित सत्ता अचेतन बस तुम्हारी ही पुलक-
अनुगामिनी
आह ! चिर स्निग्धा घड़ी जब सीख डाला यों सुलगना
स्पर्श आकांक्षा लगाये किस नशे में चूर सारी रात जगना
सोचता तुम कौन—किस मणि-द्वीप में अलि ! है तुम्हारा गेह
दूर कितने दीप आते हैं तुम्हारी ही शरण खो दग्ध
उर के स्नेह
खोले मुक्त नीरव निज तृषा के क्षुब्ध पारावार
किन्तु जिनके भस्म होते ही गगन में
बोल उठते नवकिरण के तार

वे स्वर गन्ध के संसार !
यों ही बीत जाती रात
और डूबे चाँदकी फीकी शिरायें झिलमिलातीं पीत
कम्पित गात
सोचता यह बात
तृप्त भी होते न दृग अवसाद—तृष्णा-स्नात
कौन हो तुम श्रान्त निद्राहीन उडुओं के विरह की
स्वामिनी !

(८)

देव कितना इन पगों में स्वप्न-जागृति-सङ्गिनी !
आज कैसा कर रहा मन
ये क्षमा-से युग चरण
जैसे चढ़ा दूँ प्राण के उद्गार
विह्लववाहिनी चिर साधना के ये सतत आधार
प्रणयी मुग्ध मन के छन्द
आज शब्दों के उधर उस पार अवसित कर सकूँगा
क्या प्रलय के स्पन्द ?
ओ लीलाङ्गिनी ! बोलो मरण के इन्दु !
वन कपोती सा विकल चञ्चल अरे जब रक्त का प्रतिबिन्दु !
हर्ष, वेदन, मरण, जीवन, अश्रु-मन्थन में जगे अम्लान
कुसुमित भैरवी, उगती प्रभाती सा लिये सन्धान
दीप्त मुखरित हो निखिल में एक निरुपम
चेतना नव रङ्गिनी

अन्तर्गान

(१)

एक इङ्गित भी तुम्हारा जब प्रलय की बात कहता
शेष हो जाती रवानी आँधियों के अंजुमन में
आग लग जाती इन्ही मृदु तारिकाओं के बदन में
एक उठती आँच मे घू-घू सुलग उठते तलातल
प्यास जीवन की उमड़ती—खून चल जाता गगन में
और बुनियादें बियाबां की हिलाता एक ही तूफ़ान रहता
बिजलियों की बादली बन्शी सुनाते—किस अमावस का
महाआशीष बहता
एक इङ्गित भी तुम्हारा जब प्रलय की बात कहता

(२)

प्यास युग की बिद्ध करता तब तुम्हारा ही अदर्शन

क्षुब्ध अकुलाते बँधे उन्माद खुलने को कहीं जब
ये बवण्डर के हिंडोले शून्य हीं जलते विकल जब
जब मरण की ज्वाल में भी भैरवी सुर जग न पाते
गीत यौवन के न खूनी चिन्ह भर पाते प्रखर जब

जन्म-जन्मों की महातृष्णा धधकती किन्तु रहता मूक जीवन
दग्ध छाती मे तृषित—पर एक जुम्बिश भी न जब लेते अचेतन
प्यास युग की बिद्ध करता तब तुम्हारा ही अदर्शन

(३)

एक सपना भी तुम्हारा जब मलय मनुहार लाता

डोलती हो रैन अस्थिर—शशि-किरण कहती कहानी
दूर, हरियाले वनों में फूट छा जाती जवानी
अन्ध हो जाता समीरण चैत की चिनगारियों में
एक बुचली आरजू-सी भीगती शबनम उफानी

मेघ रन्ध्रोंसे चली आती निकलती कौन आँधी-सी किरण-
आलेप स्नाता

और हो उठता तरङ्गित किस प्रखर गति का महासङ्गीत
उल्का-सा महासागर जगाता

एक सपना भी तुम्हारा जब मलय मनुहार लाता

(४)

एक दीपक भी तुम्हारा जब मरण से मुक्ति पाता

क्षुब्ध, नीलाकाश की चंचल रुलाई शान्ति भरती
एक व्याकुलता विरह में विश्व यों पागल न करती
सुधि न प्राणों में किसी की जागती रहती निरन्तर
सब्ज होकर स्नेह से तम काँपता, धरती उमड़ती

धूल धूसित बीन कितनी मौन, नीरव स्वप्न से जगती अज्ञाता
किस अयाचित स्पर्श के आघात से उन्मत्त हो जातीं सुजाता
एक दीपक भी तुम्हारा जब मरण से मुक्ति पाता

(५)

बाँध पाते जब न तुमको वन्दिनी के शेष बन्धन

गूँज नीरव व्योम में उठती महाजयध्वनि तुम्हारी
उच्छ्वसित पाषाण होते—मूक बन जाते पुजारी
दूर के अज्ञात कितने स्वर उभरते बाँसुरी में
बीतने आते न व्याकुल क्षण, अलख पथ के भिखारी

श्रुत अश्रुत भी गीत जितने प्रतिध्वनित करते तुम्हारा
आगमन उल्लास-उन्मन

विश्व मर्माहत सुन्न करता तुम्हारी यामिनी का दुख-भरा
क्रन्दन चिरन्तन

बाँध पाते जब न तुमको वन्दिनी के शेष बन्धन

(६)

एक अंजलि स्रोतका शृङ्गार जब बनती मिलन मे

क्लान्त सन्ध्या विस्मरण की फेंकती व्यवधान संचित
तुच्छ जीवन मृत्यु के उत्थान पतनों से प्रवंचित
एक नूतन गन्ध से कुसुमित, अचेतन रक्त होता
मूक जलते मर्म में होते मुखर ये प्राण किंचित्

और शत-शत कुमुदियों की प्यास तव साकार हो उठती
अकेली शशि-किरण में

एक लघु अविदित पुलक में लीन हो जाता निखिल असमय
सुपावन के वरण मे

एक अजलि स्रोतका शृङ्गार जब बनती मिलन में

जगने पर.....

कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(१)

तम की काली छलनाओं में झिलमिल करते नभ के तारे
फिर पीपल, बरगद के तरु भी हुक्रत करते अपने नारे
चेतन अस्थिर की कौन कहे—जब पाषाणों में भीं धड़कन
अपने प्राणों के क्रन्दन में खामोश पड़े—भूले चिन्तन
दिन भर का नीरस श्रमजीवी मैं कार्य-भार से थक सोया
यों जीवन-ज्वाला में अकुला कुछ बार दिवा में भी रोया
पर जान न पाता कैसे तुम नज़दीक तृषित के आ जाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(२)

कुछ सूखी, कुछ गीली पलकें, अवशेष यही तो हरियाली
ऐसे ही, दूर प्रतीची में, कुछ दिन ढलते भीगी लाली
पर देय कहाँ एकाकी को यह एक अचीन्हा सुख विस्मय
नव-ऋतु-सी आते-आते ही तुम सहसा बन जाती संशय
तुम मे भी तो चीत्कार भरा—तुम भी तो हो तीखी नारी
क्यों सजनी रजनी के उर में तुम बोने आयी चिनगारी
मुझको क्या—मुद्दत से मेरी ऐसी ही विद्ध रही छाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(३)

मैं बन्दी ! चिर-व्याकुल हूँ मैं ! ! बस चीख सिहर उठता उस क्षण
आँखों के रूखे मेघ उमड़ करते अभिलाषा का तर्पण
मुरझाये फूलों में मेरे कोकिल का कण्ठ खुला जाता
बीते दिवसों का अपराधी मैं कितनी प्यास जगा लाता !
ऐसे ही एक दिवस जग में देखूँगा—बीत गया जीवन
कुछ पास लड़कपन की भूलें—कुछ पास जवानी का क्रन्दन
पर पा न सका जो—शेष वही, प्राणों का धन, उर की थाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(४)

सम्मुख शेफाली के नीचे फूलों से भर जाती धरती
शशि-किरणें चूम चली जातीं—कुछ हँसती, कुछ आहें भरती
चिर तृप्ति कहाँ ? कहता जैसे सन-सन रव में उन्मत्त पवन
चीत्कार कपोतों का वन में झंकृत करती रजनी निर्जन

क्षण भर की ममता से वंचित मैं देख चुका मानव का मन
दुर्योगभरी रातों में जब असमय होता संघर्ष—पतन
जब अपनी मूक, तृषित, सत्ता अपने क्रन्दन से भय खाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(५)

युग-युग से दग्ध रहे परिचित विद्रोही प्राण अभावों से
कब तृप्ति इन्हें मिलने पाई सूने अन्तर के घावों से
सुख और इन्हें क्या—झपकी में यदि कोई पास तनिक आये
जीवित क़ब्रों की जड़ता में मीठी-सी आँच उठा जाये
फिर जागृति दर्द नया कर दे—मैंने इसको सुख ही माना
अन्तर्ज्वाला से प्यार बहा—जब पीर उठी सूझा गाना
कुछ दिन बीते क्षण भर योंही प्रेमी को राहत हो जाती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

(६)

जीवन का यह मस्ती का पल अमरत्व अगर बन कर आता
क्यों होता मेरा कण्ठ मधुर—क्यों मैं इतना मीठा गाता
संतप्त पुकारों में मेरी कैसे संगीत मुखर होता
यदि एक मनोरम सपने में रह जाता सारी निशि सोता
चिर तृष्णा में प्यासे रहना मानवता का सन्देश यहाँ
अपनी सुलगाई ज्वाला में आजीवन जलना शेष यहाँ
इस आकांक्षा के ऊसर में तुम कैसे पास चली आतीं
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती

———

यदि.....

यदि जगा पाता इन्ही जीवन तरंगों पर
तुम्हारे गीत साजन !

टूट जाते मोह-बन्धन, रात के ये स्वप्न सारे
मूर्ति तिर आती, तुम्हारी फिर नयन-जल के किनारे
ये किरण—निर्झर-चरण, गति-स्पर्श से बजते जिगर में
साध ही लेता तुम्हारी मैं मरण वीणा अधर में
व्याप्त चारो ओर जो यह मर्म के पथ में विरह-सा
काँप उठता मूक सुख, से यह अमा का पर्व
काले मेघ-सा अवसाद साजन !

ये शिशिर से स्निग्ध कितने स्नेह से हो सब्ज़ आते
किस अतल की वार्ता अवशेष किरणों मे सजाते
किन्तु भाषाहीन, अकथित, चीख उठती मर्म-वाणी
काश! पलभर भूल पाता उन प्रभातों की कहानी
जब तुम्हारे द्वार पर मैं रिक्त कर घूमा निरंतर
शून्य मन, विह्वल उमंगों मे लिये किस चेतना का
उग्र हाहाकार साजन !

जन्म-जन्मों से सुपरिचित—आज पर कितना विवश मैं
आज नीरव ही पिपासा—दग्ध अन्तर की उमस में
यह महाविद्रोह—यह आरक्त करवी-सा समर्पण
खींच पाया कब किसी की साँस का निर्माल्य दो कण
लीन होगी किन्तु असफलता किसी दिन साधना मे
यदि जगा पाया इन्ही जीवन तरगों पर तुम्हारे
गान साजन !

यदि जगा पाता इन्ही जीवन तरंगों पर तुम्हारा
स्वप्न साजन !

यदि सुना पाता किसी के टूटते दिलकी सदायें
एक उगती जिंदगी की ये मरणवाहन निशायें
प्राण के अन्तस्तली की खोल पाता यदि अमावस
पी अगर पाता तृषाओं के प्रलय—जीवन्त पावस
सोख लेता यदि उभरती आरजू अपनी अचेतन
बुझ न पाती फिर कभी मेरी लगाई
चाँदनी-सी आग साजन !

हँस सकें ये ज़ख्म मेरे—दर्द का वह दौर आये
निशि सोहागिनि हो उठे—मेरी शमा शबनम बहाये
जब खिज़ा आये चमन मे बीधती बीती बहारें
रुक न पाये क्षुब्ध मेरे मूक 'खारों' की पुकारे
बैन व्याकुल अन्तरों के हो न यदि गाये मुखर भी
सत्य कह दूँ—शून्य हाँ ! चिर शून्य ही रह जायगा
यह विश्व निर्धन

मानता हूँ—इस विजन मे रैन भर का यह बसेरा
विष बरसता ही मिला—जब जब उमंगों ने न घेरा
आज फूलों के महल में कौन सा अरमान लाऊँ ?
कौन संचित रह सकी जो प्राणकी निधियाँ लुटाऊँ ?
रात भर जलती रहे मेरी शिखा पर्याप्त इतना
कम यही क्या—व्याप्त जीवन मे रहे यह
दाहका विद्रूप क्रन्दन

यदि जगा पाता इन्ही जीवन तरगों पर
तुम्हारे गीत साजन !

उच्छ्वास

(१)

मैं हूँ वही--अरे मैं तो हूँ वही विकल उद्भ्रान्त
मिली धूल में जिसकी हस्ती तृष्णा से आक्रान्त
लिये अकम्पित शून्य डगर में पलकों का संगीत
जले--अपरिचित सदा तृप्ति से जो प्यासा अपुनीत

(२)

जो पतझड़ की दग्ध निशा-सा घुल-घुल गलता मूक
हैं प्रज्वलित उमगे जिसकी महावन्हि-सी हूक
इस बन्धन क्रन्दन मे सीमित जिसकी एक पुकार
तृषित महाउन्मत्त जलधि-सा करता हाहाकार

(३)

ज्वाला मे दिन-रात लहकते रहते जिसके प्राण
एक बवंडर महाकाल से जिसके दुर्दम गान
आज न पूछो--पहुँचूँगा किस पार अचेतन भग्न
आज हलाहल उमड़ चला है--बड़ी सलोनी लग्न

(४)

जीवन की चिर भीख—किसी को भूल न करना प्यार
जीवन की चिर सीख--किसी पर मत होना बलिहार
सदा रहे यह प्यास अरे यह तृष्णा ही आहार
कनक-रेणुका-रानी ! फिर भी भूल न करना प्यार

(५)

यह सन्देश पिपासा का—यह उर की प्रबल पुकार
यही किसी वीराने दिल की नीरभरी मनुहार
कितने मधुपों के जीवन का सत्य उठा है बोल
युग-युग की संतप्त क्षुधा जब रही प्रलय-सी डोल

(६)

मैं बचपन से पीता आया आकुल चिर उत्तप्त
किन्तु नशा पर्याप्त न अबतक हुआ कभी उन्मत्त
आज महानल-सी जागी तृष्णा मेरी अवसन्न
आज अचेतनता मत पूछो—अन्तहीन मैं भग्न

(७)

एक दर्द की दीप्ति—यही तो मानव जीवन मौन
एक स्वप्न यौवन ले आया किन्तु खो गया कौन ?
अरे ! मौन है यही अतल के अगणित उल्कापात
नित काले काजल से उड़नेवाले झंझाबात

(८)

यह निखरा अन्दाज न पूछो ! मदिरा का आवास
रूप-रस भरी वाणी जिसमे जल-जल उठती प्यास
अरे खोल दो ये जुल्फें—रूहों की लहरें बाल !
यह सुकुमार तरंगों की मस्ती का प्रखर गुलाल

प्राणों में एकपुकार लिए हम दोनों जलतेतृषितहृदय

(१)

हम दोनों दग्ध तृषातुर हैं—दोनों की ज्वाला अमित अमित
मैं चिर वंचित—तू चिर प्यासी हम दोनों ही जलते शापित
हम दोनों मादक वयवाले, पर तुझमें तप्त अधिक यौवन
है तुझमें कुछ ज्यादा मधुता, पर मुझमें आह! अधिक दंशन
ज्योंही मैंने सरबस खोया—तू भी घिर आयी तृष्णामय
विच्छेद कहाँ कब था हममें तू आकुल मैं उन्मत्त हृदय

(२)

चिर काल रहे है हम जीवित इन अग्नि-स्फुलिंगों मे जलते
कितने यौवन हमने झेले इस एक पिपासा मे पलते
यह कैसा अग्नि-भरा परिचय—दोनों ने हाहाकार किया
दोनों की दुस्तर साध रही—दोनों ने आत्म-विनाश किया
तेरा मेरा अवसाद-पुंज नित नित नूतन हो रहा अजय
चिर मुक्त चिरन्तन-सा नाता तू मतवाली मैं तृषित हृदय

(३)

इन काल तरंगों में पड़कर कितने शर्वरी स्वप्न टूटे
इस क्षुब्ध महासागर ने कितने ज्योति मुखर उडुगन लूटे
इन मधुकालों ने आ आ कितने मधुपों को उन्माद दिया
कितनी कलियों ने प्रथम प्रथम उच्छल हो एक विषाद पिया
एक पुष्प भी शेष रहा तब तक विहगों को था संशय
तू कोकिल-सी कातर आकुल, मैं प्रखर प्रलय-सा मृत्युंजय

(४)

इस जग मे किसको तृप्ति मिली—किसने अपनी तृष्णा खोई
उर-दाह बुझा किस मानव का—किसकी कब तक पीड़ा सोई
जब मेघ लुटा जाता जीवन शम्पा तब खोल जलाती उर
दोनों मिटते, मिट-मिट बनते, फिर मिटने को होते आतुर
किसकी कब अग्निशिखा शीतल होती—किसका निभता विस्मय
तू झंझा-सी उड़ती चलती मेरी भी यह धूनी अक्षय

(५)

क्या जिसमें जितने प्राण विपुल उसकी उतनी ही प्यास प्रखर ?
जिसमें है जितना आत्म-पतन—वह उतना ही उन्मुक्त मुखर ?
हो तीव्र वासना जितनी उतनी ही क्या तन्मयता होती ?
जिसमें जितना ही अपनापन उसकी उतनी ममता रोती ?
पर तोड़ चले जो बन्ध शृंखला वे क्यों है अतृप्त अतिशय
क्यों एक लालसा से उत्पीड़ित पगलों का अभिशप्त हृदय

(६)

इस जन्म मृत्यु के वारिधि का कब किसने अन्तस्तल देखा ?
इन लक्ष-लक्ष नक्षत्रों का कब किसने अतल वितल देखा ?
किसने क्षितिजों को चीर विपुलता की विद्युत सीमा देखी ?
किसने नगपति का उर मथकर चिर नग्न अतृप्ति, कचट देखी ?
कितने हेमन्त गये आये तम के यात्री से अन्ध अभय,
पर कब प्यासों की प्यास बुझी—कब यह अतृप्ति का मिटा अनय ?

(७)

जब एक अपूर्व विकलता से फेनायित होता है सागर
जब एक विलोड़न, क्रन्दन से विप्लावित रजनी का अन्तर
जब तीक्ष्ण शराघातों से तरु-सा, नीरव, यह अम्बर रोता
जब गहन वेदना से पीड़ित सन् सन् सन् सन् अरण्य होता
तब व्याकुलता के गीतों से हम होते अन्धकार में लय
प्राणों में एक पुकार लिये हम जलते अवश पिपासामय

मुझको भूल चलीं तुम.....

आज धड़क उठता है हिय-तल किस पीड़न से प्रतिपल
आज न जान किस ज्वाला से उठता हूँ मैं जल-जल
आज धड़क उठनी है धक्-धक् वल्लरियों की छाती
हलकी-हलकी, मलय पवन विस्मरण रागिनी गाती।
तुम्हीं मुझे फिर भूल चलोगी—था मैं उस क्षण बोला
जब उत्पीड़न की राका मे आकुल अन्तर खोला
आज वही आँखों ने देखा—प्राणों ने पहचाना
आज वही दुनिया को अवगत—सब ने उसको जाना

आज वही मैंने भर पाया जो मुझको पाना था
आह! मुझे तो उसी प्रबल तृष्णा में जल जाना था।
अपनी सखियों से तुम मुझको एक कथा-सी कहती
सुन कर त्रास, सोच कुछ, मुस्कनती सी उन्मन रहती
सजल मोह के विस्मय सा मैं कभी कसकता तुम में
कभी प्रखर हो उठता था मैं बिंदिया के कुंकुम में
वह तो बालापन था—कह दो, सपना था, झपकी थी
एक खिलौना था दुर्बल सा—अल्हड़ थी, पगली थी
एक दबी सी, हलकी सी मुस्कान—अधर का कम्पन
क्षण भर का उल्लास—यही था पागल पलकों का धन
किन्तु समय भी है अनन्त, उच्छृंखल-सा उद्दम-सा
कितना बड़ा विश्व है—कितना पीकर अब भी प्यासा
कितने मधु दिन आए होंगे तुम तक मुझे भुलाने
कितनी मोती की बरसातें, कनक मेघ अनजाने
कितने दक्षिण अनिल फुल्ल द्राक्षावन में हो डोले
धानी मंजरियों में कितने शरद विकल हो बोले
कितने सावन उड़ते आये—मुझको भूल चलीं जब
प्रणयाकुल हो डोल उमड़ती प्यास वही पगली अब
कितने उल्कापात हुए तब मैं प्राणों से टूटा
कितने झंझावात नियति ने खो यह दीपक लूटा
आज मुझे तुम भूल चली हो—कसक-कसक में मर्मर
काँप रहा हिल्लोलित जीवन क्षुब्ध जलधि सा थरथर
तरस उठे ये सूने लोचन उसी नीर से रोते
एक इसी उजड़े गृह में शतशत भूकम्पन होते

एकाकी जीवन

मेरा एकाकी जीवन
सूना एकाकी जीवन

निर्झर-से झरते सजल नयन
इनमें नित बसता है सावन
रीता न रहे उर का आँगन
ये उमड़-उमड़ पड़ते प्रतिक्षण

ये उमड़-घुमड़ नित घिर आते
रोते, एकाकी दुलराते
मेरी कसकों की फुलवारी
करुणा से सींच-सींच जाते

मेरे नयनों की तरल धार
यह मेरे जीवन का शृंगार
दुखिया नयनों का सजल प्यार
यह दुख-सुख की आकुल पुकार

मुझको कब किसने किया प्यार
खोला उर-पुर का सुखद द्वार
जग की प्रताड़ना, दुख-सँभार
ढोता मैं एकाकी अपार

मेरे जीवन का क्षण-प्रतिक्षण
ठुकराया अवहेलित उन्मन
कुछ स्नेह-नीर की बूँदों हित
प्यासा मेरे उर का कण-कण

मैंने सब जग सूना पाया
मुझको न किसी ने अपनाया
कहते हैं—सुख है, सुख से ही
परिपूरित विश्व-नीड़-छाया

पर हृदय हाय है तृप्तिहीन
सुख से विहीन—दुख में प्रलीन
उल्लास, ललक, मधुमास, आस,
वंचित, दीपक-सा स्नेह हीन

जीवन की सूनी वेला मे
अपवेपन की अवहेला मे
पागल-सा घूम रहा हूँ प्रिय!
खो निज प्रकाश का मेला मे

जिसको मैं निज उर मे धारूँ
जीवन हारूँ—सरबस वारूँ
सौरभ के—रस के मोहन को
मृदु कुसुम-सदृश मैं मनुहारूँ

वह शूल सदृश मम हृदय छेद
मेरा कोमल उर वेध-वेध
उफ ! कैसा निठुर विधान अरे !
घायल कर दे व्रण को कुरेद

तुमको सुख है ठुकराने मे
मुझको ठुकराये जाने मे
रोने में, अश्रुकणों-सी इस
पीड़ा से प्यार बहाने मे

आओ प्रिय ! तुम भी ठुकरा दो
पीड़ा में बेचैनी ला दो
इस जलते करुणा-दीपक को
आओ, आओ ! प्रिय ! उकसा दो

नभ की फुलवारी मतवाली
तारक फूलों की उजियाली
कण-कण में बिखरी मद लाली
निखरे यौवन की हरियाली

ज्योत्स्ना का फेनिल मधुर हास
भरता कुमुदी में मधु मिठास
स्वप्नों का थरथर पुलक रास
ज्योतित करता दृग्-तम, विलास

निशि-सखि का सुषमांचल झकोर
बहती मारुत की मृदु हिलोर
प्रिय आलिंगन में बँध विभोर
यौवन रस अधरों पर बटोर

ये जग-शतदल की सुकुमारी
कलियाँ सोयी प्यारी-प्यारी
सुषमा—सौरभ—सर की लहरें
ये मधु कल्लोलित स्तब्ध अरी!

उस ओर क्षितिज से सुरभिपात-
सा झाँक रहा नव अरुण प्रात
मृदु कनक चुम्बनों की उलझन
में डोल रहा नव नलिन गात

पर मेरी काली मलिन रात
स्मृति-सी बढ़ करती निठुर घात
कितना रोऊँ—होता न ज्ञात
मुझ दुखिया का कब हुआ प्रात?

अधरों पर निष्ठुर हास लिये
निर्मम छलना, उपहास लिये
आशा स्वप्नों से घिर आती
कितनी अशांति उदभ्रांति पिये

चढ़ यौवन के रथ पर वसंत
आता कुसुमित कर अवनिवृन्त
केशर, पुलकावलि, गुंजन से
पूरित कर सुरभित दिग्-दिगत

सिहरे पाटल के गाल लाल
काँपी कदंब की लता बाल
मधुरस-कल्लोलित झूम रही
वन की डाली-डाली रसाल

तब मैं किंशुक-सा गंधहीन
सूखे करील-सा रस विहीन
अपने शूलों से विंध-विंधकर
रोता हूँ अवहेलित, मलीन

जब मेघकुमारी सुकुमारी
नभ-आँगन में प्यारी प्यारी
बरसाती रूप-माधुरी-सी
मधु फेनोज्ज्वल बुँदियाँ न्यारी

जब तरु-वल्लरियों का यौवन
वधुओं का जावक मद मादन
रस-सिहर-भरे उर की कसकन
प्रिय को विलोकती खोल नयन

मैं चिर-विरही-सा एकाकी
है कितनी जलन और बाकी
सोचा—देखा करता अनुदिन
पीड़ित उर की नव दुख-झाँकी

जब शरद-परी रस-मदमाती
नव परिणीता-सी रंगराती
शशि प्रियतम से चुंबित होकर
शुचि तुहिन स्वेद-कण बिखराती

मेरे ये अपलक शून्य नयन
निज तिमिर ग्रसित दुर्भाग्य गगन
बेसुध-से देख तड़प उठते
सूना, हत, एकाकी, जीवन

ये प्यार स्नेह के फूल फूल
खिल, सुरभित कर, पीड़ा-दुकूल
क्यों नित्य विकसते डाली में
मेरे ये कोमल फूल फूल

खिल अपने ही में मुरझाते
ये जग में कहाँ शरण पाते
कटु तिरस्कार के कुटिल शूल
नित इनको छेद-छेद जाते

ये सिसक धूल में मिल जाते
जी को कलपाते—दुलराते
मृदु सजग स्नेहमय दीपक-से
प्यासे ये जल-जल बुझ जाते

मैं एकाकी, विरही, उदास,
खेता जीवन-नैया निराश
इस अतल वेदना-सागर में
अवसान! तुम्हारा कहाँ वास?

मेघ परी

किस नंदन-कानन से आयी मेघपरी सुकुमारी
नाच रही नभ के आँगन में सजनी पावस-प्यारी
मुक्त कुन्तलों का घन तम छाया है विश्व-गगन में
ये अधगूँथे शलभ-कुसुम गिरते हैं बिखर विजन में
मन्द समीरण के पंखों पर चढ़ यह निपट नवेली
नील नलिन अम्बर के भीतर थिरक रही अलबेली
नीलम-नभ-शतदल-सुवृन्त की नव कलिका-सी प्रमुदित
कल्लोलित अम्बर-सागर की नव तरंग-सी नित नित

लोल निशा के अधरों पर सुषमा की एक किरण-सी
स्वर्गंगा की धारा में अलका की मृदु चितवन-सी
तरल कुन्द मुक्तावलियों की उलझन में सुकुमारी
नाच रही चंचल प्राणों-सी सजनी मेघ कुमारी
बिजुछटा-सी देह कान्ति नव हीरक जग-मग-जगमग
ज्योतित कर देती जग का घन—अन्धकार पूरित मग
निःश्वासों के झोंकों से फहराता जब सुषमांचल
बुझ बुझ जाती हैं तारों की दीपशिखाएँ चंचल
झीने कुमुद कला घूँघट में शशिमुख छिप छिप, खुल-खुल
एकाकी जीवन के प्राणों को करता पुलकाकुल
गन्धवाह वाहन अंगों से राशि-राशि रस-यौवन
झर झर निर्झर-सा करता नव वल्लरियों का चुम्बन
मेघपरी ! अयि नव नलिनी ! नाचो मेरे आँगन में
मधु-मुकुलित, रसपूरित स्वर्णकिरण-कल्लोलित मन में
आओ ! छा जाओ ! यौवन के स्मर-शर-सम्मोहन-सी
स्वर्ण-स्वप्न-आलोड़ित उर में प्रिय के आलिंगन-सी

———

भूलना मुझको न जिसने भी प्रणय का स्वप्न देखा
गन्धगीतों से भरी जीवन्त जिसकी लौह-रेखा
था मिला संसार जैसा छोड़ वैसा ही चला जो
पर अजीवन में लिये आकंठ जो जलती दुराशा

(५)

माधवी वन में फिरे निःशब्द जब दक्षिण समीरण
जब कथा के शेष रहते कठ भर आये, उठे मन
वृन्त-च्युत, सूखे सुमन-सी छूटती तब सुधि किसी-की
फेकना मेरे गृही ! मत काल कोषों में अगति-सी
बिंध वधू के चुम्बनों में भूलना मुझको न साथी !
गूँथती जीवन-मरण की आँच मेरी कल्पना थी
तुम सफल—मैं किंतु था असफल, यही संबध क्या कम ?
तृप्ति वह कैसी न जिसमे याद भी आई निराशा

(६)

और कोई यह निखिल लिप्सा—अगर यह दाह लाता
प्राण-पीड़क एक तृष्णा ले अगर उठने न पाता
सत्य कहता हूँ—न जो करता बहुत था और सब कम
मार छाती पर चरण-आघात द्रोही क्षुब्ध भृगु-सम
मैं बँधा ज्वालामुखी अब तक कभी का डोल जाता
बाँध रक्खा है किसी ने, मैं न बन्धन खोल पाता
इस कफ़स में भी यहाँ चिरकाल जलने की न आशा
भूल मत जाना पथी तरुणी तरुण मैं था तुम्ही-सा

———

गोधूली

कौन कौन तुम राग-मयी, हिमकर की नव ऊषा-सी
जीवन-रजनी के अतीत स्वप्नों की प्रत्यूषा-सी

रवि-किरणों के अरुण-तरुण जीवन की मुकुलित इति-श्री
दिवा सुन्दरी की अन्तिम यौवन-छवि अँगड़ाई-सी

दूर क्षितिज की अमराई मे किरणों का नत गोपन
देख रही हो लहर-लहर मे अपना बिम्बित नर्तन

कुमुद बाल के दूर्वा—केशों की सेन्दुर रेखा-सी
चन्द्र-मिलन के निशि-सोहाग की प्रणय-मधुर-लेखा-सी

सखि ! सन्ध्या के अधरों पर तव रजत गुलाबी चुम्बन
दीप रहा नव तारक-सा यह प्रणय ज्योति का लघु कण

ऊर्मिल यौवन के उभार-सा लघु सोने का अंचल
खस-खस पड़ता सोनजुही-सा सान्ध्य पवन मे चंचल

एकत्रित पश्चिम मे हो तुम छायी ज्योत्स्ना सजनी !
घन विषाद-छाया-सी लोहित—रवि की जीवन-रजनी

अयि रहस्यमयि ! मुग्धमना ! ताण्डव-मद-तम की रानी
यौवन की प्रगल्भ धारा की नव अस्थिर मनमानी

अपने ही उर की धारा मे तैर मृत्युमयि ! भीमा !
रूपसि ! ढूँढ़ रही हो क्या निज मणि-मन्दिर की सीमा ?

अलस मेघ-परिधान समेटे गोधूली सुकुमारी
किरणों के टूटे तारों की भग्न रागिनी प्यारी

मेरे उर के कम्पन मे—सुख-दुख के उत्पीडन मे
भर दो निज अवसादमयी मदिरा मेरे जीवन मे

मेरे मन्थर-अलस दिवा-स्वप्नों मे तुम उतरो तो
मोह-अन्ध मदमादन मे अमरण अवसान भरो तो

मेरे चिर दुख का रीता सङ्गीत, प्रलय की ज्वाला
यह अनन्त नैराश्य, कसक, प्राणों की अवसित माला

देवि ! तुम्हारी चितवन की सन्ध्या में इनका लय हो
सजनि ! तुम्हारे मलिन, करुण, शृङ्गार जलें—विस्मय हो

———

मेरी 'तुम'

तुम्हें देख लेता हूँ जब लावण्य-पुञ्ज हे बाले !
एकाकिनि मल्लिका-लता-सी, तेज तमी मधुशाले !
जग का दुख, दावानल, घर्षण, देवि लुप्त हो जाता
विपुल अनन्त, विश्व में कोई शत्रु नहीं दिख पाता
तृप्ति, हर्ष, उल्लास, शान्ति, की जननि साधना रानी !
मूक तपस्वी की नीरव अनुभूति—अनन्त कहानी
एक तुम्हीं पर होम दिया विभ्रात हृदय तूफ़ानी
श्रीचरणों पर मुग्ध सदा मदहोश पड़ा था मानी

आह ! एक क्षण के सुख पर जल भस्म हुआ यह जीवन
अन्धकार सा छू-छू कर तव स्वर्ण-प्रभा-पद-पावन
वीचि-विचुंबित माधविका-सी, पुलकित प्रीति लजाती-सी
अलस मोलश्री वनरानी सी, कुंकुम रँग-रस-माती-सी
छूम छनन झुक झूम डोलती जब जब सुधि मतवाली
दीपक सा जल-जल उठता मैं तम-तल-सागर आली !
बोलो ! सकुच सलज कुछ बोलो ! मेरे दुख की ज्वाला !
कब से हेर रहा यह लोलुप, रूप-शलभ मतवाला
बोलो—कुछ डोलो तो हे झंकारमयी पाषाणी !
द्रवित न करती क्या तुमको इस चातक की दुख-वाणी

पावस गान

पावस कुमार घन बरसो
तापकरी उर्वी के उर में कुसुम-वाण-रस सरसो
बरसो बादल बरसो
खोल रुद्ध-छबि-श्री-गवाक्ष-पट
सरित स्निग्ध श्यामल पल्लव घट
रजित कर गिरि विपिन पुलक तट
हँस-हँस हरियाली सुख क्रीड़ा गीत गन्ध परसो
स्फटिक सलिल सिंचित वेतस वन
अनिल कम्प उन्मन गिरि आनन
सरि सर कास कुंज निर्झर तन
वन कपोत से चपल रगमय इनमें नव नव दरसो
फुल्ल करो शर-शस्य-नीप-दल
मद कल कूजित जग पथ प्रतिपल
पथिक वधू-कन्या स्मर चंचल
पुष्पाकुल समीर स्मिति विभ्रम रिमझिम झिम झरसो

पावस गान

बरसे सावन के श्यामल घन

नभ की तरु-सुषमा पर बिखरे
हिलते पल्लव दल हरे-हरे
उर में उमंग का रस, झर रे !
ये भरते मधु-कण परिपूरन

नव गर्जन-रथ से मन्द उतर
ले कनक-दीप-कामना प्रखर
है कौन चंचला ज्योति-मुखर
करती इनका नव-रति-अर्चन

जब खोल लोल कच भार धरा
कुछ काँपी पुलक-विकल अपरा
लज्जा-सी अपल अशेष गिरा
ये पागल कर उठते नर्तन
सावन के रसिया श्यामल घन

जगते ही क्यों मुझे बुलाते.....

आधी रात सपन में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते !

फोड़ निशा-मण्डल क्यों भूपर आता फिर आह्वान तुम्हारा ?
प्रणयी, स्वप्न विभोर हृदय क्यों असमय हो उठता हत्यारा ?
धू-धू करती आँच तुम्हारे मस्तक का जयनाद सुनाती
एक-एक आवाज़ कहीं से जैसे झंझावात उठाती
मीठे ख्वाब उजड़ने को बन जाते कैसे मैं जग जाता
क्यों तुम मुझको आज बुलाते—क्यों तूफ़ान बुलाने आता
यह कैसी ललकार भयंकर मेरी क्षमता को अनजाने

आधी रात सपन में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते !
मैं भी एक अजब हस्ती हूँ—सबसे जैसे दूर अकेला
किन्तु सभी के दुख से निर्मित मेरा अफ़साना अलबेला
कुछ दिन—हाँ कुछ दिन पहले ही मेरा भी था एक खिलौना
और उमङ्गों की बातें थीं—ज्ञात कहाँ था खोना, रोना
एक नयी दुनिया में मैंने चुन-चुन तिनके महल बनाया
कागज की नैया पर जैसे दुर्दिन का पतवार लगाया
फिर किस्मत की आँधी आयी मोल मरण का करनेवाली
आधी रात सपन में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते !
अब भी सारी रात उसी का जैसे देखा करता सपना
आज वही तो हिय का सबल—आज वही सबसे बढ़ अपना
किन्तु पिपासित ही रह जाता जब सुनता चीत्कार निरन्तर
और उधर रणनाद तुम्हारा—हो खामोश कहाँ से अन्तर
होता दर्द मुझे भी जब मैं देख जगत का रौरव पात
मैं भी प्रतिहिंसा से प्रेरित, पागल होता, जल-जल जाता
किन्तु मुझे घुल बुझना भाता, सब से दूर, उसी के द्वारे
आधी रात सपन में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते !
चिर आभ्रान्त अशान्त तुम्हीं सा मैं—मेरा जीवन बेमानी
एक वेदना-दामिनि मेरी—मैं अपूर्णता की कुरबानी
आया जब आदेश तुम्हारा—जागे कितने टूटे तारे
बोल उठे खँडहर भी जैसे—खोले जन्म मरण के नारे
मैं भी घोषित करूँ तुम्हारा क्या यह निधन निनाद उजागर
सोख चलूँ क्या जीवन ज्वाला में उमड़ा तृष्णा का सागर
पर मैं तो पाबन्द किसी का—दूर मृत्यु की छाँह जहाँ तक
आधी रैन सपन में बीती—क्यों मुझको दिलदार बुलाते !
फेंक रहा है आँच सुहानी यह काँटों का ताज तुम्हारा
अन्ध किये देती यौवन से उमड़ी अङ्गारों की धारा

उठ-उठ दर्द तसल्ली देगा कब तक दोज़ख का सरमाया
शेष रहेगी एक तमन्ना—अर्घ्य न प्राणों का दे पाया
घनतर होती जाती जैसे यह हुंकार अखण्ड असम्भव
आग लगी प्रेमी के घर में आज जुला ममता का उत्सव
किन्तु प्रलय तो दूर—अभी अविनाशी युग का पर्व न आया
आधी रात सपन में बीती क्यों तुम मुझको आज बुलाते !
माफ़ करो—कुछ दिन जलने दो ओ मेरे सर्वस्व अनामी !
काँप उठा जग—देख तुम्हारी सत्ता मुक्त-बन्ध अविरामी
फिर आऊँगा पास तुम्हारे ले छूँछा जीवन मतवाला
मेरे विद्रोही खप्पर मे भर देना शोणित की हाला
रक्त-स्नात तव नृत्य करेंगे मुझसे कितने ही दीपकर
आने भी दो वह मूहूर्त फिर तो विप्लव फूटेंगे घर-घर
आज अमङ्गल-स्रष्टा मेरे ! पीने दो अभिशाप किसी का
आधी रात सपन में बीती जगते ही क्यों मुझे बुलाते !

मौन !

मूक रह पाता सजनि ! मैं मूक भी तो रह न पाता !

मूक ही जलते तृषा से दग्ध मरु-पाषाण व्याकुल
मूक ही जलते सितारे—मूक जलते दीप घुल-घुल
काश ! मैं भी मूक रहता—सोख तृष्णा की अमावस
हो न पाता यह मुखर आराधना का सिन्धु—पावस
और खामोशी न पूछो ! बीत जाता मौन जीवन
शेष गीतों में कहाँ यों भी हुआ जाता निवेदन
तो कदाचित् कुछ जलन में तृप्ति का आभास होता
मूक रह पाता वियोगिनि ! मूक भी मैं रह न पाता !

प्राण जलते, होंठ जलते, मूक निश्चल डोलता मैं
दर्द की रानाइयों में पर न अन्तर खोलता मैं
देखता दिन-रात लगते आग मधुबन में निरन्तर
देखता जलती जवानी एक खोया• स्वप्न पाकर
देखता तूफ़ान घिरते किन्तु घुट जाते जिगर में
वस्त्रहीना से बँधे चीत्कार चलते बन्द घर में
प्यास का अवसाद मेरा पाप यह वरदान होता
मृत्यु बन्दी कर न सकती जन्म का निर्माल्य-नाता
पर तुम्हारी प्रीति पा ली मैं इसे कैसे छिपाता ?
दर्प सचित मर्म में जो—मैं उसे कब तक न गाता
भूल कब इस जन्म की यह युग-युगों की प्यास आली
तृप्ति सूनी ही न जब जीवन-मरण के द्वार खाली
तृप्ति—हाँ ! चिर तृप्ति ही ! जब कल्पना की आँच में जल
दग्ध होते प्राण मेरे इन अभावों में अचंचल
भस्म होता किन्तु जितना—भीगती यह साध मेरी
मूक रह पाता सजनि ! मैं मूक भी तो रह न पाता !
हो रही अनुभूति—जैसे प्रतिध्वनित तुम व्याप्त प्रतिपल
विश्वव्यापी स्वर विरह का बस तुम्हारा दाह उज्ज्वल
आज तो तुम स्वप्न पर चिर सत्य यह मेरी मुखरता
शेष फिर भी लालसा—जैसे न क्षण-भर मर्म भरता
यह तुम्हारी व्याप्ति जीवन में न जब तक शान्ति लाती
बस समझ लो है अधूरी प्राण ! तेरी ज्योति-बाती
आग वह कैसी न जिससे हों तरङ्गित नीर-निर्झर
मूक रह पाता सजनि मैं मूक भी तो रह न पाता !
चाहिए फिर आज मुझको साधना की ज्योतिधारा
प्रज्वलित दीखे सदा आलोक मङ्गलमय तुम्हारा

अस्त रवि की तम-तृषा से हों निविड़ जब साँझ के पट
मुक्त हो—निर्बन्ध हो मेरी किरण के रूप का घट
और देखूँ—शेष सीमा पर विकल तेरी दिपाली
मस्त रजनी गा उठे—मैंने तुम्हारी प्रीति पाली
गूँजती मेरी तरङ्गें—यह विसर्जन सुख अनोखा
आज व्याकुल बाहुओं से मैं तुम्हारा पथ सजाता
मूक रह पाता सजनि ! मैं मूक भी तो रह न पाता